ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



यत्पादतोयं भवरोगवैद्यो यत्पादपांशुर्विमलत्वसिद्ध्यै ।
यन्नाम दुष्कर्मनिवारणाय तमप्रमेयं पुरुषं भजामि ॥

वर्ष २८ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २०१०, फरवरी १९५४ | संख्या २
पूर्ण संख्या ३२७

उत्तम योगभ्रष्ट

जो संलग्न श्रेष्ठ साधनमें छोड़ जगत्‌के सारे स्वार्थ ।
आठों पहर सावधानीसे साध रहा जो शुचि परमार्थ ॥
साध्य तत्त्वतक नहीं पहुँचकर पहले ही यदि मर जाता ।
तो धीमान् योगियोंके घर जन्म सुदुर्लभ वह पाता ॥

(गीता ६ । ४२ के आधारपर)

याद रक्खो—कोई भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति तुम्हें शान्ति नहीं दे सकती, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकती, तुम्हें सुखी नहीं बना सकती, यदि तुम भगवान्‌के मङ्गलमय विधानके अनुसार प्राप्त परिस्थिति-का सदुपयोग करके उससे लाभ नहीं उठाते।

याद रक्खो—प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग यही है कि उसमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करो, उसमें अपना मङ्गल देखो और उससे लाभ उठाओ। यह निश्चय करो कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, मेरे परम सुहृद्, न्यायकारी और दयालु भगवान्‌ने मेरे कर्मोंको देखकर जो कुछ भी मेरे लिये विधान किया है, निश्चय ही मेरे लिये उसमें परम मङ्गल निहित है।

याद रक्खो—भगवान्‌ने तुम्हारे लिये जो कुछ भी परिस्थिति दी है, यदि तुम उससे लाभ उठाना चाहो तो प्रत्येक परिस्थिति तुम्हारे लिये शुभ और मङ्गलमयी हो सकती है। यदि तुम्हें भगवान्‌ने प्राणी-पदार्थ दिये हैं तो समझो कि तुम्हें सेवा करनेका अवसर दिया है। तुम उन वस्तुओंके ट्रस्टी हो, मालिक नहीं; उनकी सँभाल रखना, रक्षा करना और जहाँ, जब आवश्यकता हो वहाँ, तब यथायोग्य व्यवस्थापूर्वक उन्हें मालिककी सेवामें लगाते रहना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम यदि अपनेको उन वस्तुओंका स्वामी न मानकर उन्हें प्रभुकी सेवामें लगाते हो तो उनका सदुपयोग करते हो। इसी प्रकार यदि तुम्हारे पाससे वस्तुएँ चली गयी हैं तो समझो कि प्रभुने दया करके तुमको मोहमें फँसानेवाली स्थितिसे बचा लिया है, उन्होंने तुमपर बड़ी ही कृपा की है; और कृतज्ञ हृदयसे प्रभुका स्मरण करते हुए तथा संतोष और सुखका अनुभव करते हुए इस परिस्थितिसे लाभ उठाओ।

याद रक्खो—यदि तुम अपनी वर्तमान परिस्थितिमें संतुष्ट नहीं हो और किसी दूसरी परिस्थितिकी आशा करते हो तो तुम्हें कभी भी संतोष होगा ही नहीं और न कभी तुम चित्तमें शान्तिका अनुभव करोगे।

याद रक्खो—संसारमें कोई भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति ऐसी है ही नहीं, जो सर्वथा पूर्ण हो, जिसमें अभाव न हो। तुम जिस किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिको प्राप्त करोगे, जिससे अपनी मनोरथसिद्धि मानोगे, वही नये-नये अभावोंको और उनकी पूर्तिके लिये नयी-नयी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिकी अपेक्षा और आशाको लेकर तुम्हारे सामने आयेगी और तुम्हारी पराधीनताको, परमुखापेक्षिताको और भी बढ़ा देगी। तुम्हें नयी-नयी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितियोंकी आशाकी फाँसीमें बँधना पड़ेगा और उनकी चाहे जितनी गुलामी करनेपर भी कहीं भी कभी भी उनसे तुम्हें तृप्ति, संतोष, शान्ति और सुख नहीं मिलेगा। तुम दिन-रात उनकी आशा-प्रतीक्षामें रहोगे; परंतु आशा-प्रतीक्षाकी पूर्तिका प्रसङ्ग आगे-से-आगे टलता जायगा, दूर-से-दूर होता चला जायगा।

याद रक्खो—किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिमें शान्ति-सुख है ही नहीं, वे तो तुम्हारे अंदर हैं, जो किसी दूसरी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिकी आशाका त्याग करके प्रभुके द्वारा दी हुई वर्तमान परिस्थितिका सदुपयोग करनेपर स्वयं प्रकट होते हैं।

याद रक्खो—जो मनुष्य भगवान्‌पर विश्वास न करके प्रतिक्षण बदलनेवाली तथा मृत्युके प्रवाहमें बहती हुई वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिपर विश्वास करता है, वह कभी भी सच्ची शान्ति और सुखका मुख नहीं देख सकता। वह सदा वञ्चित ही रहता है।

'शिव'

एक महात्माका प्रसाद

(कुछ दिनों पूर्व हमारे एक आत्मीय एक महात्माके पास गये थे, वहाँ प्रवचन तथा प्रश्नोत्तररूपमें जो कुछ महात्माजीने कहा, उसे लिख लिया गया था। उसीको यहाँ क्रमसे दिया जा रहा है।)

(१)

साधकके जीवनमें ऐसी प्रतीति नहीं रहनी चाहिये कि अमुक समय तो साधनका है और अमुक समय साधनका नहीं है। अमुक कृपा या प्रवृत्ति तो साधन है और अमुक नहीं है। उसका तो प्रत्येक क्षण और प्रत्येक प्रवृत्ति साधनमय होनी चाहिये। जिसकी समझमें सब कुछ भगवान्‌का है, उसका अपना तो केवलमात्र एक भगवान्‌के सिवा और कुछ भी नहीं रहा। फिर उसकी कोई भी प्रवृत्ति भगवान्‌की सेवासे भिन्न हो ही कैसे सकती है? उसके जीवनका प्रत्येक क्षण भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, उन्हींकी दी हुई योग्यतासे, उन्हींकी सेवामें लगेगा। इसके सिवा दूसरा साधन हो ही क्या सकता है!

(२)

अन्तःकरणकी शुद्धिका विषय

(१) बुरे और अनावश्यक संकल्पोंका त्याग ही चित्तशुद्धिका पहला उपाय है।

(क) जिस कामसे किसीका अहित होता हो, तद्विषयक संकल्पोंका नाम बुरे संकल्प हैं।

(ख) जिसका वर्तमानसे सम्बन्ध न हो, जिस संकल्पको पूरा करनेकी साधकमें योग्यता या शक्ति न हो, यदि शक्ति या योग्यता हो तो भी वर्तमानकालमें उसे पूरा करना आवश्यक न हो या सम्भव न हो, ऐसे संकल्पोंका नाम है—अनावश्यक संकल्प।

इनकी निवृत्तिके बाद जो साधकके मनमें आवश्यक और भले संकल्प उठते हैं, उनकी पूर्ति अपने-आप होती है, यह प्राकृत नियम है।

(ग) आवश्यक संकल्प उनको कहते हैं, जिनके अनुसार साधककी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है और जिनकी पूर्तिका सम्बन्ध वर्तमानसे है, जैसे भोजनादि शरीरसम्बन्धी क्रिया-विषयक संकल्प एवं अपनी योग्यताके अनुसार अन्यान्य वर्तमान प्रवृत्तिसे या निवृत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाले संकल्प।

(२) भले संकल्प उनको कहते हैं जिनमें किसीका हित—प्रसन्नता निहित हो।

आवश्यक और भले संकल्पोंकी पूर्तिमें भी उस पूर्तिके सुखमें रस न लेना किंतु ईश्वरकी अहैतुकी कृपाका अनुभव करते हुए उनके प्रेम और विश्वासको पुष्ट करते रहना—यह चित्तशुद्धिका दूसरा उपाय है।

(३) जब कभी साधकको ऐसा प्रतीत होता हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पोंकी भी पूर्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मनमें किसी प्रकारकी खिन्नता या निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; किंतु ऐसा समझना चाहिये कि 'प्रभु अब मुझे अपनानेके लिये—मुझे अपना प्रेम प्रदान करनेके लिये मेरे मनकी बात पूरी न करके, अपने मनकी बात पूरी कर रहे हैं।' तथा ऐसे भावसे उन प्रेमास्पदके संकल्पमें अपने संकल्पोंको मिलाकर उनकी प्रसन्नतासे और उनके प्रेमप्राप्तिकी आशाभरी उमंगमें आनन्दमग्न हो जाना—यह अन्तःकरणकी परम शुद्धिका अन्तिम साधन है।

चित्त शुद्ध होनेसे निर्विकल्प स्थिति और संदेह-रहित बोध होता है। उस समय साधकके जीवनमें सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्ति तथा स्वाधीनता और सामर्थ्य—इनका अनुभव होता है; परंतु उससे होनेवाले सुखमें भी साधकको संतुष्ट नहीं होना चाहिये और उसका उपभोग भी नहीं करना चाहिये; किंतु उदासीन भावसे

उसकी उपेक्षा करके भगवान्‌के प्रेम और विश्वासको ही पुष्ट करते रहना चाहिये ।

(३)

सिद्धान्त और साधन

साधकके लिये वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ मान्य है जिसके समझनेमें उसे किसी प्रकारका संदेह न हो और जिसके अनुसार अपना जीवन बना लेनेमें उसे किसी प्रकारकी कठिनाईका बोध न होता हो । यानी वर्तमानमें प्राप्त परिस्थिति और योग्यताके सदुपयोगसे ही जिस सिद्धान्तके अनुसार जीवन बना लेना सहज हो । जिसमें निराशाके लिये कोई स्थान न हो, जो उसको सबसे अधिक प्रिय हो तथा जिसमें उसका पूर्ण विश्वास हो । जिस साधकके पास न धनका बल है, न शरीरका बल है, न बुद्धि-बल है, न इन्द्रिय-बल है, न सदाचार-बल है और न जातिका बल है—ऐसा दीन-हीन पतितसे भी पतित मनुष्य जिस सिद्धान्तके अनुसार सुगमतासे अपने साध्यको अनायास सहज ही प्राप्त कर सकता हो, वही सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है । जो सिद्धान्त प्राप्त योग्यताके सदुपयोगद्वारा साधकको साध्यकी प्राप्ति करा देनेमें समर्थ हो, वही उसके लिये वास्तविक सिद्धान्त है । अपने सिद्धान्तका अनुसरण करते हुए दूसरोंके सिद्धान्तका आदर करना ही धर्म है; क्योंकि धर्म सभी सिद्धान्तोंका समर्थक है ।

(४)

भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि

किसी भी कर्मकी शुद्धिके लिये यह जानना परमावश्यक है कि उसका उद्गमस्थान क्या है अर्थात् कर्मकी उत्पत्ति कहाँसे होती है तो विचार करनेपर मालूम होगा कि कर्ताके भाव और संकल्पसे कर्म बनता है अर्थात् पहले कर्ता किसी भावसे भावित होकर स्वयं कुछ बनता है, तब उसके अनुसार संकल्प और कर्मकी उत्पत्ति होती है । जब मनुष्य कोई अच्छा काम करनेमें प्रवृत्त होता है तो पहले स्वयं अच्छा बनता है । वैसे ही जब किसी बुरे काममें प्रवृत्त होता है तो पहले स्वयं बुरा बनता है । जैसे चोर बनकर चोरी करता है, भोगी बनकर भोग करता है, सेवक बनकर सेवा करता है इत्यादि । अतः यह सिद्ध हुआ कि क्रियाकी शुद्धिके लिये साधकको पहले अपने अहंभावको शुद्ध करना परम आवश्यक है; क्योंकि कारणकी शुद्धिके बिना कार्यकी वास्तविक और स्थायी शुद्धि नहीं होती । इसलिये साधकको चाहिये कि वह अपनी मान्यताको पहले स्थिर और शुद्ध बनावे, विकल्परहित यह निश्चय करे कि मैं भगवान्‌का हूँ । यह भाव निश्चित होनेपर अपने-आप उसी कामको करनेके संकल्प उठेंगे जो भगवान्‌को प्रिय हैं, जो भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करने आवश्यक हैं । इस प्रकार भाव, संकल्प और कर्मकी शुद्धि सुगमतापूर्वक अपने-आप हो सकती है । साधक जिस वर्ण, आश्रम, परिस्थितिमें रहता हो उसे तो भगवान्‌की नाट्यशालाका स्वाँग समझे और उस स्वाँगके अनुसार जब जो कर्म करना आवश्यक हो, उसे खूब उत्साह, सावधानी और प्रसन्नतापूर्वक करता रहे; परंतु उस अभिनयको अपना जीवन न माने अर्थात् उसमें जीवन, बुद्धि, सद्भाव न रक्खे । ऐसा होनेसे अभिनयके रूपमें होनेवाली प्रवृत्तियोंका राग अङ्कित नहीं होगा । जिससे निर्वासना आ जायगी और प्रत्येक प्रवृत्तिके अन्तमें स्वाभाविक ही प्रेमास्पदके प्रेमकी प्रतीक्षा उदय होगी, क्योंकि अभिनयकालमें यह भावना जाग्रत् रहती है कि हमारे हिस्सेमें आया हुआ अभिनय ठीक-ठीक पूरा हो जानेपर हमारे प्रेमास्पद हमें जरूर अपनायेंगे, हमसे प्रेम करेंगे । प्रेमास्पदकी ओरसे मिले हुए अभिनयसे छिपे हुए रागकी निवृत्ति होती है । रागका अन्त होते ही अनुरागकी गङ्गा स्वतः लहराने लगती है—यह सभी प्रेमियोंका अनुभव है । अभिनय करते समय इस बात-

को कभी न भूले कि मैं उनका हूँ जो इस लीलास्थली-रूप जगत्के स्वामी हैं। अतः मैं जो कुछ कर रहा हूँ या मुझे जो कुछ करना है—वह उन्हींकी प्रसन्नताके लिये करना है। इस अभिनयको प्रभु देख रहे हैं।

अहंभावकी शुद्धिके बिना यदि कोई मनुष्य कर्मकी शुद्धिके लिये प्रयत्न करता है तो वह कोशिश करनेपर भी कर्मको शुद्ध नहीं बना सकता; क्योंकि जहाँसे कर्मकी उत्पत्ति होती है, जो उसका कारण है, उसकी शुद्धिके बिना कर्मकी शुद्धि सम्भव नहीं है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९।३०)

गीताके इस श्लोकसे भी यही भाव निकलता है; क्योंकि भगवान्ने इसमें साधकके निश्चयकी महिमाका ही वर्णन किया है। भगवान्का यह कहना कि जो मेरा अनन्य भक्त होकर मुझे भजता है, वह यदि अत्यन्त दुराचारी भी हो तो भी उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय बड़ा अच्छा है, उसने जो यह निश्चय कर लिया कि मैं भगवान्का भक्त हूँ। यह निश्चय उसको शीघ्र ही धर्मात्मा—सदाचारी बना देगा—यह भाव इसके अगले श्लोकमें स्पष्ट है।

(५)

प्रश्न—कलके सत्सङ्गमें यह बात सुनी थी कि साधकको अपनी निर्बलताका और प्रभुकी महिमाका ज्ञान होनेसे भगवान्में प्रेम और विश्वास बढ़ता है। अतः यह समझानेकी कृपा करें कि साधककी निर्बलता क्या है और वह उसे कैसे समझे तथा भगवान्की महिमा क्या है और उसे किस प्रकार समझा जाय?

उत्तर—मनुष्यमें सबसे बड़ी निर्बलता तो यह है कि वह जिसको करना बुरा समझता है उसे किये बिना नहीं रह सकता। जिसे करना उचित समझता है उसे नहीं कर पाता। भगवान्ने जो इसे सुचारुरूपसे कर्म करनेके लिये क्रियाशक्ति, विवेकशक्ति दी है, उसका यह सदुपयोग न करके दुरुपयोग करता है, तथापि भगवान् इतने उदार और दयालु हैं कि जब उन शक्तियोंका ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी उसके अपराधकी ओर ध्यान न देकर बार-बार उसे वही शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इस रहस्यको समझकर यदि साधक भगवान्से उनके द्वारा प्रदत्त शक्तिका सदुपयोग करनेका बल प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करे तो वह भी देनेके लिये वे महान् उदार प्रभु सदैव प्रस्तुत हैं। भगवान्के इस भावको समझनेवाला साधक उनमें प्रेम-विश्वास किये बिना रह ही कैसे सकता है?

जो साधक भगवान्को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है,—वह पतित है, महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्ण है या नीच वर्ण जातिका—इस बातका भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है—वे उससे प्रेम करनेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणीद्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्की इस महिमाको समझनेवाला साधक उनपर अपनेको न्योछावर कर देनेके सिवा और करेगा ही क्या।

(६)

साधकको चाहिये कि प्राप्त विवेकके द्वारा अपने मनकी दशाका भलीभाँति निरीक्षण करे कि उसकी आन्तरिक रुचि क्या है, उसमें कौन-कौन-सी आसक्ति (राग) छिपी है। इस प्रकार मनके अन्तस्तलमें रुचि और रागके रूपमें छिपे हुए अपने दोषोंको देख लेनेपर वे दोष अपने-आप नष्ट हो जाते हैं—यह प्राकृतिक नियम है। जबतक साधक गुरुजनों और शास्त्रोंद्वारा सुनकर अपने

दोषोंको दोष समझता है—उनको सद्गुणोंकी भावनासे दवाता रहता है, तवतक वे एक बार दब तो जाते हैं; पर उनका समूल नाश नहीं होता। अतः पुनः मौका पाकर समयपर वे घोर रूपमें भड़क उठते हैं, किंतु प्रत्यक्ष रूपसे देख लेनेके बाद दोषोंका मूलसहित नाश हो जाता है। यद्यपि साधक बुद्धिजन्य विवेकद्वारा दोषोंको दोषरूपमें समझता है, उनको छोड़ना भी चाहता है। उसी प्रकार सद्गुणोंको भी समझता है तथा उनको धारण भी करना चाहता है; परंतु जबतक हृदय और विवेककी एकता नहीं हो जाती, मनको उन दोषोंमें रस आता रहता है और गुणोंके रसका अनुभव नहीं होता, तवतक दोषोंका त्याग और गुणोंका संग्रह नहीं होता। अतः साधकको चाहिये कि वह प्राप्त विवेकके द्वारा गहराईसे अपने दोषोंका निरीक्षण करके विवेक और हृदयकी एकता स्थापित करे अर्थात् मन और बुद्धिमें जो दूरी है, उसे मिटाकर मनको बुद्धिमें विलीन कर दे। ऐसा होनेसे दोषोंकी उत्पत्ति नहीं होगी और गुणोंका सङ्ग नहीं होगा। तव बुद्धि अपने आप सम और स्थिर हो जायगी।

(७)

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा, जो सवपर सदैव है, उसका अनुभव कैसे हो ?

उत्तर—जिस साधकको अपने बल-पुरुषार्थपर भरोसा है, जो यह समझता है कि अपने कर्मोंके फलस्वरूपमें प्राप्त शक्तिके द्वारा साधन करके मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लूँगा—उसे भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता। वैसे ही जो विचारमार्गमें विश्वास रखनेवाला साधक विचारके द्वारा ही अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा है—उसे भी भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता। भगवत्कृपाका अनुभव उस साधकको होता है, जिसको उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हर-एक परिस्थितिमें उनकी कृपाकी ही बाट जोहता रहता है। उस साधकको भी भगवत्कृपाका अनुभव होता है जो यह मानता है कि 'मुझे जो कुछ विवेक प्राप्त है—वह भगवान्‌का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य समस्त साधनसामग्री उन्हींकी है और उन्होंने ही कृपापूर्वक इनका सदुपयोग करनेके लिये इनको मुझे दिया है। उन्हींकी कृपा, प्रेरणासे साधनमें मेरी प्रवृत्ति तथा प्रगति होती है और होगी।' इस प्रकार जो अपनेको भगवान्‌की कृपाका पात्र मानता है और उस मान्यतामें भी भगवान्‌की कृपाको ही कारण समझता है उसीको भगवत्कृपाका अनुभव होता है।

प्रभुका हृदयमें निवास

प्रेमरूप हरि वस गये हियमें नित्य सुबोध।
रह न सकेंगे अव वहाँ द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध॥
हरिका सुन्दर विनय-वपु रहा हृदयमें छाय।
गर्व, दर्प, अभिमान, मद पलमें गये विलाय॥
सत्यरूप आनन्दमय प्रभु हिय रहे विराज।
शोक दुःख भय दंभका नष्ट हो गया राज॥
प्रभुका शीतल विमल अति छाया हृदय प्रकाश।
राग-कामना-अहं-मम-तमका हुआ विनाश॥
क्षमामूर्ति प्रभु कर रहे हियमें नित्य निवास।
हुआ असूया अघमयी हिंसाका अति नाश॥
हियमें जबसे आ बसे नित्य निरामय राम।
त्रिविध व्याधि सव मिट गयीं मिला मधुर विश्राम॥
मेरे ही प्रभु बस रहे जब सबके हिय आप।
तब किससे कैसे रहे, द्वेष वैरका पाप॥
निज-पर-भेद मिटा सभी सबमें प्रभु पहचान।
प्राणिमात्र प्रति प्रेमकी धारा बही महान॥
सबमें प्रभु, सब ही प्रभु, सब लीला विस्तार।
लीला लीलामय सदा करते मधुर विहार॥

नारद-विष्णुपुराणकी महत्ता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इस वर्ष 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें श्रीनारदपुराण और श्रीविष्णुपुराणका संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है। इन दोनों ही पुराणोंमें जो-जो प्रसङ्ग सबके जानने योग्य तथा विशेष उपयोगी जान पड़े, उन्हींको इसमें दिया गया है। श्रीवृहन्नारदीयपुराण अथवा श्रीनारदपुराणके नामसे जो मुद्रित प्रतियाँ उपलब्ध हुई थीं, उनमें श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिके अतिरिक्त प्रायः सभीमें लगभग ४२ अध्याय ही मिलते हैं। ये अध्याय श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी प्रतिमें भी ग्रन्थके आरम्भसे ही कुछ साधारण पाठ-भेदके साथ ज्यों-के-त्यों आये हैं। अन्यान्य कुछ प्रतियोंमें वक्ता नारद हैं और इसमें नारद प्रश्नकर्ता हैं और वक्ता सनकादि हैं। इस नारदपुराणमें वर्णित पुराण-विषय-सूचीके अनुसार यह पचीस हजार श्लोकोंका बताया गया है, परंतु श्रीवेङ्कटेश्वरप्रेसकी मुद्रित प्रतिमें पूरे श्लोक नहीं है। श्रीनारदपुराणका अन्य कोई पूर्ण संस्करण प्राप्त न होनेके कारण इसी प्रतिके अनुसार अनुवाद करवाकर उसका संक्षेप दिया गया है।

इस नारदपुराणके पूर्वभागमें श्रीसनकादि मुनियोंके द्वारा श्रीनारदजीके प्रति अनेकों प्रकारके उपदेश दिये गये हैं, जिसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग, उपासना आदि आध्यात्मिक विषय तो प्रचुर मात्रामें हैं ही, साथ ही वेदके छः अङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष (गणित, जातक, संहिता) और छन्द इत्यादि लौकिक विज्ञानके सम्बन्धमें भी संक्षेपमें बड़ा ही सारगर्भित तथा उपयोगी विवेचन है। उसमें बहुत-सी बातें सीखनेयोग्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

नारदपुराणके पूर्वभागके सातवें अध्यायमें गङ्गावतरणके प्रसङ्गमें श्रीसनकजीने सूर्यवंशीय राजा बाहुका एक विचित्र चमत्कारपूर्ण इतिहास कहा है। उसमें अध्यात्म-शिक्षाके साथ ही सत्सङ्गका भी बड़ा सुन्दर प्रकरण है। इस प्रसङ्गमें सत्पुरुषोंकी जैसी अतुलनीय महिमा मिलती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं देखी गयी। यह प्रसङ्ग सबके लिये ध्यान देने योग्य है।

राजा बाहु अपने धर्माचरणके प्रभावसे परम ऐश्वर्य-सम्पन्न हो गये थे, किंतु एक समय उनके मनमें असूयादोषके कारण बड़ा भारी अहंकार उत्पन्न हो गया, जिससे वे अत्यन्त उद्दण्ड हो गये। तब हैहय और तालजङ्घ-कुलके क्षत्रिय उनके शत्रु बन गये तथा उन्होंने आक्रमण करके राजाको युद्धमें परास्त कर दिया। राजा अत्यन्त दुखी होकर अपनी गर्भवती पत्नीके साथ वनमें चले गये। बहुत समय बीतनेके बाद वनमें ही और्व मुनिके आश्रमके निकट रोग-ग्रस्त होकर राजा बाहु संसारसे चल बसे। तब गर्भवती होनेपर भी उनकी छोटी पत्नीने चितापर पतिके साथ जलकर सती होनेका विचार किया। इसी बीचमें परम बुद्धिमान् महान् तेजोनिधि महात्मा और्व मुनि वहाँ आ पहुँचे और रानीको चितापर चढ़नेके लिये उद्यत देख उन्होंने बड़े सौम्य शब्दोंमें समझाते हुए कहा—'राजपुत्री! तू निश्चय ही पतिव्रता है, किंतु चितापर चढ़नेका साहसपूर्ण कार्य न कर; क्योंकि तेरे गर्भमें चक्रवर्ती बालक है तथा गर्भवती नारीके लिये चितारोहणका निषेध है।'

और्व मुनिके समझानेपर पतिव्रता रानी चितारोहणसे निवृत्त हो गयी और पतिके चरणोंमें पड़कर विलाप करने लगी। तब सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता महात्मा और्वने रानीसे कहा—'महाभागे! तू रो मत, इस समय तुझे अपने स्वामी-के मृतक शरीरका दाह-संस्कार करना उचित है, अतः शोक त्यागकर समयोचित कार्य कर। पण्डित हो या मूर्ख, दरिद्र हो या धनवान् तथा दुराचारी हो या सदाचारी—सबपर मृत्युकी समान दृष्टि है। नगरमें हो या वनमें, जिस जीवने जो कर्म किया है, उसे उसका फल-भोग अवश्य करना पड़ता है। जैसे दुःख बिना ही बुलाये प्राणियोंके पास चले आते हैं, उसी प्रकार सुख भी आ सकते हैं—ऐसा मेरा मत है। इस विषयमें प्रारब्ध ही प्रबल है। अतः तू इस दुःखको त्याग दे और विवेकके द्वारा धैर्य धारण करके सुखी हो जा।'

यों कहकर मुनिने उसके द्वारा दाह-सम्बन्धी सब कार्य करवाये। फिर रानीने शोक त्याग दिया और मुनीश्वरको प्रणाम करके कहा—'भगवन्! आप-जैसे संत दूसरोंकी भलाईकी ही अभिलाषा रखते हैं,—इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो दूसरोंके दुःखसे दुखी और दूसरोंकी

प्रसन्नतासे प्रसन्न होता है, वह नररूपधारी जगदीश्वर नारायण है। संत पुरुष दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये शास्त्र सुनते हैं और अवसर आनेपर सबका दुःख दूर करनेके लिये ही शास्त्रोंके वचन कहते हैं। जहाँ संत रहते हैं, वहाँ वैसे ही दुःख नहीं सताता जैसे सूर्यके पास अन्धकार नहीं रह सकता।'

तदनन्तर रानीने वहाँ तालाबके किनारे विधिपूर्वक पतिकी अन्यान्य पारलौकिक क्रियाएँ कीं। वहाँ महात्मा और्व मुनिके उपस्थित रहनेके कारण एक बड़ी अद्भुत घटना हुई, राजा बाहु महान् तेजसे प्रकाशित होते हुए चितासे निकले और श्रेष्ठ विमानपर बैठकर मुनीश्वर और्वको प्रणाम करके परम धामको चले गये। महान् पुरुषोंके ऐसे अद्भुत प्रभावका वर्णन करते हुए सनकजी कहते हैं—

महापातकयुक्ता वा युक्ता वा चोपपातकैः।
परं पदं प्रयान्त्येव महद्भिरवलोकिताः॥
कलेवरं वा तद्भस्म तद्धूमं वापि सत्तम।
यदि पश्यति पुण्यात्मा स प्रयाति परां गतिम्॥
(नारद० पूर्व० ७। ७४-७५)

'जिनपर महापुरुषोंकी दृष्टि पड़ती है, वे महापातक या उपपातकसे युक्त होनेपर भी अवश्य परम पदको प्राप्त हो जाते हैं। पवित्रात्मा पुरुष यदि किसीके शरीरको, शरीरके भस्मको अथवा उसके धुएँको भी देख लें तो वह मृतक मनुष्य परम गतिको प्राप्त हो जाता है।' महापुरुषोंकी महिमाका कैसा ज्वलन्त उदाहरण है। अस्तु!

पतिका श्राद्धकर्म करनेके बाद रानी और्व मुनिके आश्रमपर चली गयी और समयपर इसी छोटी रानीके गर्भसे पुराणप्रसिद्ध राजा सगरकी उत्पत्ति हुई।

उत्तरभागमें महर्षि वशिष्ठजीने नृपश्रेष्ठ मान्धाताके प्रति प्रधानतया एकादशी-व्रत और विभिन्न तीर्थोंकी महिमाका वर्णन किया है। वहाँ एकादशीके माहात्म्य-वर्णनमें विष्णुभक्त राजा रुक्माङ्गदका बड़ा सुन्दर अत्यन्त विचित्र इतिहास है। वे सार्वभौम (चक्रवर्ती) राजा थे। वे भगवद्भक्त तो थे ही, सदा एकादशी-व्रतके पालनमें तत्पर रहते थे। वे एकादशीके दिन हाथीपर नगाड़ा रखकर बजवाते और सब ओर यह घोषणा कराते थे कि 'आज एकादशी तिथि है। आजके दिन आठ वर्षसे अधिक और पचासी वर्षसे कम आयुवाला जो मन्दबुद्धि मनुष्य भोजन करेगा, वह कोई भी क्यों न हो, दण्डनीय होगा अथवा उसे नगरसे निर्वासित कर दिया जायगा।' राजाके इस प्रकार घोषणा करानेपर सब लोग एकादशी-व्रत करके भगवान् विष्णुके परम धाममें जाने लगे। यों उस राजाके राज्यमें जो लोग भी मृत्युको प्राप्त होते थे, वे पातकशून्य होकर भगवान् विष्णुके परम धाममें चले जाते थे। पापियोंके अभावसे यातना प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण नरक सूने हो गये, यमराजका विभाग सर्वथा कार्यरहित हो गया।

इनसे भी बढ़कर कीर्तिमान् नामक एक चक्रवर्ती राजा हुए हैं, जिनके विषयमें स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें इस प्रकार वर्णन मिलता है कि वे महान् विष्णुभक्त थे। उनके सदुपदेशसे समस्त प्रजा सदाचार और भक्तिसे पूर्ण हो गयी। उनके पुण्यफलसे यमराजके यहाँ जो पहलेके प्राणी थे, उन सबकी सद्गति होने लगी और वर्तमानमें मरनेवाले सब लोग परमगतिको प्राप्त होने लगे। इससे नये प्राणियोंका यमलोकमें जाना ही बंद हो गया। इस प्रकार यमलोक बिल्कुल सूना हो गया। तब यमराजने जाकर ब्रह्माजीसे कहा, ब्रह्माजी उन्हें साथ लेकर श्रीविष्णुभगवान्‌के पास गये। दोनोंने भगवान्‌को प्रणाम किया। फिर ब्रह्माजी बोले—'प्रभो! आपके श्रेष्ठ भक्त राजा कीर्तिमान्‌के प्रभावसे सब मनुष्य अविनाशी-पदको प्राप्त हो रहे हैं, इससे यमलोक सूना हो गया है।' तब भगवान् विष्णुने हँसते हुए कहा—'जिन्होंने मेरे लिये सब भोगोंका त्याग करके अपना जीवनतक मुझे सौंप दिया है, जो मुझमें मन लगाकर मेरे स्वरूप हो गये हैं, उन महाभाग भक्तोंको मैं कैसे त्याग सकता हूँ? राजा कीर्तिमान्‌को इस पृथ्वीपर मैंने दस हजार वर्षोंकी आयु दी है। उसमेंसे आठ हजार वर्ष बीत चुके हैं। शेष आयु और बीत जानेपर उन्हें मेरा सायुज्य प्राप्त होगा। जबतक ये धर्मात्मा भक्त राजा कीर्तिमान् जीवित हैं, तबतक तो ऐसा ही होगा।'

ऐसे-ऐसे महान् पुण्यवान् तथा तेजस्वी श्रेष्ठ राजा हमारे इस भारतवर्षमें हो चुके हैं। जबतक इस पृथ्वीपर राजा कीर्तिमान् रहे, तबतक सभी मनुष्योंका उद्धार होता रहा; कोई भी यमलोकमें नहीं गया; किंतु फिर भी सब जीवोंका उद्धार नहीं हुआ। पर जब उद्धारका मार्ग खुला है और एक जीवका भी कल्याण होता है, तब सब जीवोंका भी कल्याण हो सकता है, यह न्याय है। सबके कल्याणके लिये शास्त्रोंमें इस प्रकारके सुन्दर वाक्य भी मिलते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी दुःखका भागी न बने ।'

यदि सबके कल्याणकी बात असम्भव होती तो ऐसे वाक्य क्योंकर कहे जाते । यदि कहें कि 'जब सबका कल्याण आजतक नहीं हुआ तो अब कैसे हो सकता है ?' तो ऐसा कथन नहीं बनता, क्योंकि जब एकका कल्याण हो सकता है तो हजारका भी हो सकता है, लाखका भी हो सकता है एवं सबका भी हो सकता है । यह न्याययुक्त और युक्तिसङ्गत बात है । इसका विरोध नहीं किया जा सकता । एक मनुष्य लाखों-करोड़ों जन्मोंसे संसार-चक्रमें भटकता हुआ आ रहा है, उसकी मुक्ति आजतक नहीं हुई । तो भी साधन करनेसे उसकी मुक्ति हो तो सकती ही है; क्योंकि साधनद्वारा मुक्ति होती है, इस विषयमें सभी शास्त्रसम्मत हैं । फिर हम यह कैसे कह सकते हैं कि 'लाखों-करोड़ों ब्रह्मा बीत गये, अभीतक सबकी मुक्ति नहीं हुई तो अब भी नहीं हो सकती ।' हमारा यह कथन अयुक्त और शास्त्रविरुद्ध होगा, क्योंकि यदि मुक्ति नहीं होती तो उसके लिये लोग प्रयत्न क्यों करते, तथा शास्त्रोंमें जो भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग आदि साधनोंद्वारा मुक्ति बतलायी गयी है, वह भी अप्रमाणित होती । फिर ऐसे अनेकों उदाहरण भी मिलते हैं । ध्रुव, प्रह्लाद, शुकदेव, वामदेव, अम्बरीष आदि अनेक पुरुष मुक्त हुए हैं । इसलिये यह बात सिद्ध हो जाती है कि जब एक पुरुष मुक्त हो सकता है तो हजारों, लाखों, करोड़ों भी मुक्त हो सकते हैं । इस न्यायसे सभी मुक्त हो सकते हैं । अतः जो बात आजतक नहीं हुई, वह भविष्यमें नहीं हो सकती, ऐसा कहना अयुक्त है ।

आर्ष ग्रन्थोंमें कहीं भी ऐसा नहीं कहा है कि सबका कल्याण नहीं हो सकता । तब फिर सबका कल्याण नहीं हो सकता—ऐसा हम किस आधारपर मानें । यदि कहें कि 'जब राजा कीर्तिमान्-जैसे धर्मात्मा भक्त भी सबका उद्धार नहीं कर सके तो दूसरा कौन कर सकता है ?' तो यह कहना भी उचित नहीं है; क्योंकि यह तो शास्त्रमें कहीं नहीं कहा गया कि जो कार्य राजा कीर्तिमान् नहीं कर सके, वह दूसरेके द्वारा भी नहीं हो सकेगा । यदि कीर्तिमान्से भी बढ़कर परम दयालु, परम उदार, निष्कामी, प्रेमी भक्त हों तो सबका उद्धार हो सकता है । इस विषयमें एक कहानी है—

एक निष्कामी प्रेमी भगवद्भक्त था । उसकी भक्तिके प्रभावसे भगवान्ने उसको प्रत्यक्ष प्रकट होकर दर्शन दिये और कहा—'तुम्हारी इच्छा हो सो वर माँगो ।' भक्तने उत्तर दिया—'मुझे किसी बातकी इच्छा नहीं है ।' फिर भगवान्ने बार-बार आग्रह किया—'तुम्हें कोई इच्छा नहीं है, तब भी हमारे संतोषके लिये तुम्हारी इच्छा हो वही वर माँग सकते हो ।' विशेष आग्रह करनेपर भक्तने कहा—'प्रभो ! ऐसी ही बात है तो जीवमात्रका उद्धार कर दीजिये ।' भगवान्ने कहा—'सबके पाप समाप्त हुए बिना सबकी मुक्ति नहीं हो सकती । इनके पापोंको कौन भोगेगा ?' भक्त बोला—'प्रभो ! सबके पापोंका उपभोग मैं अकेला कर लूँगा । आप सबको मुक्त कर दीजिये ।' भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम मेरे भक्त हो; इसलिये सबके पापोंका फल तुम्हारे द्वारा कैसे भुगताया जा सकता है ?' भक्तने कहा—'ऐसा न करें तो सबके पापोंको क्षमा कर दीजिये ।' भगवान् बोले—'ऐसा सम्भव नहीं है ।' भक्तने कहा—'असम्भव भी तो नहीं है; क्योंकि जब एककी मुक्ति होती है, तब इसी न्यायसे सबकी भी हो सकती है । फिर आप तो साक्षात् ईश्वर हैं, आपके लिये तो कुछ भी असम्भव है ही नहीं; क्योंकि आप सर्वशक्तिमान् हैं, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' हैं । आप असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं ।' भगवान् बोले—'वत्स ! तुम्हारा कथन ठीक है, किंतु मैं ऐसा नहीं कर सकता, इसके लिये मैं लाचार हूँ ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! यदि आप नहीं कर सकते तो फिर आपने आग्रह करके यह क्यों कहा कि तुम अपने इच्छानुसार वर माँग लो ? आपको यही कहना उचित था कि तुम स्त्री, पुत्र, धन, मान, प्रतिष्ठा, दीर्घायु, स्वर्ग या मुक्ति माँग लो ।' इसपर भगवान्ने उत्तर दिया—'तुम्हारा कहना ठीक है । तुम्हारी विजय हुई और हम हारे ।' भक्तने कहा—'इसमें मेरी विजय क्या हुई, मेरी विजय तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते ।' भगवान्ने कहा—'सबका कल्याण करनेके लिये तो मैं विवश हूँ । मेरे दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, स्मरण तथा नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, तुम बड़े दयालु और उदारचित्त निष्कामी प्रेमी भक्त हो, इसलिये तुम्हारे भी दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप और नाम-गुणोंके कीर्तनसे मनुष्यका कल्याण हो जायगा ।' भक्तने इस बातको स्वीकार कर लिया ।

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि सबका कल्याण हो सकता है; किंतु भक्त अनन्यप्रेमी, परम श्रद्धावान्, परम निष्कामी, उदारचित्त, सबका परम हित चाहनेवाला और परम दयालु होना चाहिये।

× × × ×

श्रीविष्णुपुराण भी नारदपुराणोक्त सूचीके अनुसार पूर्व और उत्तर दो भागोंमें विभक्त माना गया है और उसमें तेईस हजार श्लोक बताये गये हैं। पूर्वभागमें छः अंश बताये गये हैं जो प्रायः मुद्रित प्रतियोंमें प्राप्त होते हैं। उत्तर-भाग विष्णुधर्मोत्तरके नामसे प्रसिद्ध है, इस विशेषाङ्कमें पूर्व-भाग ही लिया गया है।

इस विष्णुपुराणके छठे अंशमें एक विशेष ध्यान देने योग्य प्रसङ्ग है। श्रीवेदव्यासजीने कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको 'श्रेष्ठ तथा अति धन्य' बतलाया है। पराशरजी कहते हैं—

मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रः साधुः कलिः साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥
(६।२।६,८)

'उस समय गङ्गाजीमें डुबकी लगाये मेरे पुत्र व्यासने जलसे निकलकर उन मुनिजनोंके सुनते हुए यह वचन कहा कि 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ है।' यह कहकर वे महामुनि फिर जलमें मग्न हो गये और फिर खड़े होकर बोले—'स्त्रियाँ ही श्रेष्ठ हैं, वे ही धन्य हैं; उनसे अधिक धन्य और कौन है?'

कलियुगको धन्य और श्रेष्ठ कहनेका कारण तो यह है कि इसमें केवल भगवन्नाम-गुण-कीर्तन तथा बहुत ही थोड़े प्रयाससे मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है।

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
(विष्णुपु० ६।२।४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(१२।३।५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंकी निधि है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह कलियुगकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। इतना ही नहीं, सत्ययुगमें दस वर्षोंतक ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और भगवन्नाम-जप आदिसे जो आत्म-कल्याणरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वह कलियुगमें एक दिन-रातमें हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
(विष्णुपु० ६।२।१५-१६)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है।'

स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे।
(ब्राह्म० सेतु० ४३।३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य लाभ किया जाता है, उसी पुण्यको त्रेतायुगमें मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें ही प्राप्त हो जाता है।'

सत्ययुगकी अपेक्षा कलियुगमें थोड़े समयमें ही कल्याण हो जाता है, इसके सिवा उसमें सुगमता भी है। सत्ययुगमें

ध्यान करनेसे जो परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके जप-कीर्तनसे ही हो जाती है ।

श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् ।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम् ॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः ॥

(विष्णुपु० ६ । २ । १७-१८)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें देव-पूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है । हे धर्मज्ञगण ! कलियुगमें थोड़े-से परिश्रमसे ही पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अति संतुष्ट हूँ ।'

श्रीमद्भागवतमें भी इसी प्रकार आता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(१२ । ४ । ५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधि-पूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है ।'

कहीं-कहीं तो यहाँतक भी मिल जाता है कि कलियुगमें भगवान्‌के भजनके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती; किंतु हमलोगोंको कम-से-कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि अन्य साधनोंकी अपेक्षा यह साधन सुगम और श्रेष्ठ है तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनका फल अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें अधिक है और यह भी मान लेना चाहिये कि इसमें परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे तथा अल्प कालमें ही हो सकती है । श्रीपराशरजी कहते हैं—

तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम् ।
करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः ॥

(विष्णुपु० ६ । १ । ६०)

'सत्ययुगमें तपस्यासे जो उत्तम पुण्यराशि प्राप्त की जाती है, उसको मनुष्य कलियुगमें थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही प्राप्त कर सकता है ।'

स्कन्दपुराणमें भी बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम् ।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः ॥

(माहेश्वर० कुमा० ३५ । ११५)

'यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो ! कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं ।'

इस समय हमलोग कलियुगमें विद्यमान हैं, अतः हमलोगोंको भगवत्कृपासे यह सुअवसर प्राप्त हो गया है । अब हमें इस अवसरसे कभी नहीं चूकना चाहिये । हमें उचित है कि भगवान्‌के नाम और गुणोंका स्मरण तथा भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही निष्काम-भावपूर्वक श्रद्धा-भक्तिसहित नित्य-निरन्तर करनेके लिये प्राण-पर्यन्त चेष्टा करें । अन्य कार्य हों या न हों, अथवा अन्य कार्योंमें कोई बाधा भी आ जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है । मनुने भी कहा है—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

(मनु० २ । ८७)

'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि पा लेता है, इसमें कोई संदेह नहीं है । वह अन्य कुछ करे या न करे, (ऐसा वह) ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है ।'

यद्यपि यहाँ यह बात ब्राह्मणके लिये कही गयी है, किंतु शास्त्रोंका उद्देश्य ब्राह्मणको अग्रसर करके ही सबको धर्मका उपदेश देनेका रहता है, इस कारण यह सभीके लिये लागू पड़ता है ।

अब इसपर विचार करें कि शूद्र श्रेष्ठ और धन्य क्यों हैं ?

शूद्रोंके लिये तो शास्त्रोंमें बहुत ही सुविधा दी गयी है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—यज्ञ, दान, वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्यपालन आदि स्वधर्मोंका पालन करके बड़ी कठिनाईसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं, किंतु शूद्र केवल उन तीनों वर्णोंकी सेवामात्रसे अनायास ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है । श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः ।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः ॥
जयन्ति ते निजाँल्लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः ॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान् ।
निजान् जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः ॥

(६ । २ । १९, २२, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए

इस कहानीसे यह सिद्ध होता है कि सबका कल्याण हो सकता है; किंतु भक्त अनन्यप्रेमी, परम श्रद्धावान्, परम निष्कामी, उदारचित्त, सबका परम हित चाहनेवाला और परम दयालु होना चाहिये।

× × × ×

श्रीविष्णुपुराण भी नारदपुराणोक्त सूचीके अनुसार पूर्व और उत्तर दो भागोंमें विभक्त माना गया है और उसमें तेईस हजार श्लोक बताये गये हैं। पूर्वभागमें छः अंश बताये गये हैं जो प्रायः मुद्रित प्रतियोंमें प्राप्त होते हैं। उत्तर-भाग विष्णुधर्मोत्तरके नामसे प्रसिद्ध है, इस विशेषाङ्कमें पूर्व-भाग ही लिया गया है।

इस विष्णुपुराणके छठे अंशमें एक विशेष ध्यान देने योग्य प्रसङ्ग है। श्रीवेदव्यासजीने कलियुग, शूद्र और स्त्रियोंको 'श्रेष्ठ तथा अति धन्य' बतलाया है। पराशरजी कहते हैं—

मग्नोऽथ जाह्नवीतोयादुत्थायाह सुतो मम।
शूद्रः साधुः कलिः साधुरित्येवं शृण्वतां वचः॥
निमग्नश्च समुत्थाय पुनः प्राह महामुनिः।
योषितः साधु धन्यास्तास्ताभ्यो धन्यतरोऽस्ति कः॥
(६। २। ६, ८)

'उस समय गङ्गाजीमें डुबकी लगाये मेरे पुत्र व्यासने जलसे निकलकर उन मुनिजनोंके सुनते हुए यह वचन कहा कि 'कलियुग ही श्रेष्ठ है, शूद्र ही श्रेष्ठ है।' यह कहकर वे महामुनि फिर जलमें मग्न हो गये और फिर खड़े होकर बोले—'स्त्रियाँ ही श्रेष्ठ हैं, वे ही धन्य हैं; उनसे अधिक धन्य और कौन हैं ?'

कलियुगको धन्य और श्रेष्ठ कहनेका कारण तो यह है कि इसमें केवल भगवन्नाम-गुण-कीर्तन तथा बहुत ही थोड़े प्रयाससे मनुष्यका परम कल्याण हो जाता है।

महामुनि पराशरजी कहते हैं—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
(विष्णुपु० ६। २। ४०)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त कर लेता है।'

इसीसे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(१२। ३। ५१)

'परीक्षित् ! यह कलियुग दोषोंकी निधि है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें जगह-जगह कलियुगकी बड़ी भारी महिमा गायी गयी है। इतना ही नहीं, सत्ययुगमें दस वर्षोंतक ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन और भगवन्नाम-जप आदिसे जो आत्म-कल्याणरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वह कलियुगमें एक दिन-रातमें हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत् कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
(विष्णुपु० ६। २। १५-१६)

'हे द्विजगण ! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है, इसी कारण मैंने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है।'

स्कन्दपुराणमें भी कहा है—

दशवर्षैस्तु यत्पुण्यं क्रियते तु कृते युगे।
त्रेतायामेकवर्षेण तत्पुण्यं साध्यते नृभिः॥
द्वापरे तच्च मासेन तद्दिनेन कलौ युगे।
(ब्राह्म० सेतु० ४३। ३-४)

'सत्ययुगमें दस वर्षोंमें जो पुण्य लाभ किया जाता है, उसी पुण्यको त्रेतायुगमें मनुष्य एक वर्षमें सिद्ध कर लेते हैं और वही द्वापरमें एक मासमें और कलियुगमें एक दिनमें ही प्राप्त हो जाता है।'

सत्ययुगकी अपेक्षा कलियुगमें थोड़े समयमें ही कल्याण हो जाता है, इसके सिवा उसमें सुगमता भी है। सत्ययुगमें,

ध्यान करनेसे जो परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धि होती है, वह कलियुगमें केवल भगवान्‌के नाम और गुणोंके जप-कीर्तनसे ही हो जाती है।

श्रीवेदव्यासजीने बतलाया है—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
धर्मोत्कर्षमतीवात्र प्राप्नोति पुरुषः कलौ।
अल्पायासेन धर्मज्ञास्तेन तुष्टोऽस्म्यहं कलेः॥
(विष्णुपु० ६।२।१७-१८)

'जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें देव-पूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवका नाम-कीर्तन करनेसे मिल जाता है। हे धर्मज्ञगण! कलियुगमें थोड़े-से परिश्रमसे ही पुरुषको महान् धर्मकी प्राप्ति हो जाती है, इसीलिये मैं कलियुगसे अति संतुष्ट हूँ।'

श्रीमद्भागवतमें भी इसी प्रकार आता है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(१२।४।५२)

'सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधि-पूर्वक उनकी पूजा-सेवासे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।'

कहीं-कहीं तो यहाँतक भी मिल जाता है कि कलियुगमें भगवान्‌के भजनके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती; किंतु हमलोगोंको कम-से-कम यह तो मान ही लेना चाहिये कि अन्य साधनोंकी अपेक्षा यह साधन सुगम और श्रेष्ठ है तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंके कीर्तनका फल अन्य युगोंकी अपेक्षा कलियुगमें अधिक है और यह भी मान लेना चाहिये कि इसमें परमात्माकी प्राप्ति सुगमतासे तथा अल्प कालमें ही हो सकती है। श्रीपराशरजी कहते हैं—

तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्।
करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥
(विष्णुपु० ६।१।६०)

'सत्ययुगमें तपस्यासे जो उत्तम पुण्यराशि प्राप्त की जाती है, उसको मनुष्य कलियुगमें थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही प्राप्त कर सकता है।'

स्कन्दपुराणमें भी बतलाया है—

कलेर्दोषनिधेश्चैव शृणु चैकं महागुणम्।
यदल्पेन तु कालेन सिद्धिं गच्छन्ति मानवाः॥
(माहेश्वर० कुमा० ३५।११५)

'यद्यपि कलियुग समस्त दोषोंका भण्डार है, तथापि उसमें एक महान् गुण भी है, उसे सुनो! कलिकालमें थोड़े ही समय साधन करनेसे मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाते हैं।'

इस समय हमलोग कलियुगमें विद्यमान हैं, अतः हमलोगोंको भगवत्कृपासे यह सुअवसर प्राप्त हो गया है। अब हमें इस अवसरसे कभी नहीं चूकना चाहिये। हमें उचित है कि भगवान्‌के नाम और गुणोंका स्मरण तथा भगवान्‌के नामका जप और कीर्तन केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे ही निष्काम-भावपूर्वक श्रद्धा-भक्तिसहित नित्य-निरन्तर करनेके लिये प्राण-पर्यन्त चेष्टा करें। अन्य कार्य हों या न हों, अथवा अन्य कार्योंमें कोई बाधा भी आ जाय तो कोई चिन्ताकी बात नहीं है। मनुने भी कहा है—

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥
(मनु० २।८७)

'ब्राह्मण केवल जपसे ही सिद्धि पा लेता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वह अन्य कुछ करे या न करे, (ऐसा वह) ब्राह्मण सबका मित्र कहा जाता है।'

यद्यपि यहाँ यह बात ब्राह्मणके लिये कही गयी है, किंतु शास्त्रोंका उद्देश्य ब्राह्मणको अग्रसर करके ही सबको धर्मका उपदेश देनेका रहता है, इस कारण यह सभीके लिये लागू पड़ता है।

अब इसपर विचार करें कि शूद्र श्रेष्ठ और धन्य क्यों हैं?

शूद्रोंके लिये तो शास्त्रोंमें बहुत ही सुविधा दी गयी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—यज्ञ, दान, वेदाभ्यास और ब्रह्मचर्यपालन आदि स्वधर्मोंका पालन करके बड़ी कठिनाईसे उत्तम गति प्राप्त करते हैं, किंतु शूद्र केवल उन तीनों वर्णोंकी सेवामात्रसे अनायास ही उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है। श्रीविष्णुपुराणमें कहा है—

व्रतचर्यापरैर्ग्राह्या वेदाः पूर्वं द्विजातिभिः।
ततः स्वधर्मसम्प्राप्तैर्यष्टव्यं विधिवद्धनैः॥
जयन्ति ते निजाँल्लोकान् क्लेशेन महता द्विजाः॥
द्विजशुश्रूषयैवैष पाकयज्ञाधिकारवान्।
निजाञ्जयति वै लोकाञ्छूद्रो धन्यतरस्ततः॥
(६।२।१९, २२, २३)

'द्विजातियोंको पहले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हुए

वेदाध्ययन करना पड़ता है और फिर स्वधर्माचरणसे उपार्जित धनके द्वारा विधिपूर्वक यज्ञ करने पड़ते हैं। द्विजगण ! इस प्रकार वे अत्यन्त क्लेशसे अपने लोकोंको प्राप्त करते हैं, किंतु जिसे केवल (मन्त्रहीन) पाकयज्ञका ही अधिकार है, वह शूद्र द्विजोंकी सेवा करके ही उस सद्गतिको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है।'

इसलिये शूद्रोंको ऐसा अवसर पाकर सबकी सेवा करके विशेष लाभ उठाना चाहिये।

कोई भी कर्म हो, यदि निष्कामभावसे किया जाय तो उससे तुरंत मुक्ति हो जाती है। कर्मोंके फलका, उन कर्मोंकी और विषयोंकी आसक्तिका एवं अभिमानका त्याग करके समतापूर्वक शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंके करनेका नाम ही कर्मयोग है। इस प्रकारके योगके साधनसे मनुष्यकी मुक्ति शीघ्र ही हो जाती है। भगवान् कहते हैं—

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ५। ६)

'कर्मयोगी मुनि ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है।'

यदि सबको भगवान्का स्वरूप मानकर उनकी सेवा की जाय तो वह भक्तिप्रधान कर्मयोग होनेके कारण उच्चकोटिका सर्वश्रेष्ठ निष्काम कर्म है। भगवान्ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

इसलिये अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार सेवा करनेका तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि वर्णोंके लिये भी विधान है; क्योंकि इसी उद्देश्यसे भगवान्ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ४२, ४३ और ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके लिये उनके पृथक्-पृथक् स्वधर्मरूप कर्मका प्रतिपादन किया है एवं सभीके लिये अपने-अपने कर्मोंद्वारा सबमें भगवद्बुद्धि करके उनकी सेवारूप पूजा करनेसे परम सिद्धिकी प्राप्ति बतलायी है।

शूद्रोंके लिये तीनों वर्णोंकी सेवा करना मुख्य है, क्योंकि उनकी आजीविकाका कर्म भी सेवा ही है। इसलिये दूसरे वर्णवालोंका अपनी आजीविकाके लिये शूद्रके तीनों वर्णोंकी सेवारूप स्वाभाविक कर्म करनेका अधिकार नहीं है; किंतु अपनेसे समान और उच्च वर्णवालोंकी सेवा सभी कर सकते हैं। जैसे—वैश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यकी तथा क्षत्रिय ब्राह्मण और क्षत्रियकी सेवा कर सकता है। स्वार्थका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक ईश्वर-बुद्धिसे तो सभी लोग सभीकी सेवा कर सकते हैं।

आजकल लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणोंने शूद्रोंको पददलित करके नीचे गिरा दिया, यह उनकी भूल है। जिन्होंने शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा कह सकते हैं। शास्त्रोंमें जो स्वधर्मपालनको सबसे बढ़कर बतलाया है और उसका फल उत्तम गतिकी प्राप्ति कहा गया है, वह ब्राह्मणोंकी अपेक्षा शूद्रके लिये बहुत ही सुगम है। इसी दृष्टिसे श्रीवेदव्यासजीने शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अपने उच्च वर्णके अभिमानसे शूद्रोंको तुच्छ समझकर यदि उनकी अवज्ञा करते हैं, तो यह उनकी गलती है; क्योंकि सबमें भगवान् विराजमान हैं। इसलिये कोई भी मनुष्य किसीकी अवज्ञा और तिरस्कार करता है तो वह भगवान्का ही अपमान और तिरस्कार करता है। अतः सभी मनुष्योंको उचित है कि अपनेसे निम्न वर्णवालोंकी अवज्ञा कभी न करें, अपितु उन्हें श्रेष्ठ और धन्य समझकर उनका यथायोग्य सम्मान करें; क्योंकि शास्त्रोंमें शूद्रोंको श्रेष्ठ और धन्य कहा है तथा उनमें स्वाभाविक ही अपनेमें उच्चजातिका अभिमान नहीं रहता। किसी भी प्रकारका अभिमान क्यों न हो, अभिमानमात्र ही मुक्तिमें बाधक है।

अब विचार करते हैं कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ और धन्य कैसे हैं ? धर्मका पालन और परम गतिकी प्राप्ति स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षा शीघ्र और अनायास ही हो सकती है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

स्वधर्मस्याविरोधेन नरैर्लब्धं धनं सदा।
प्रतिपादनीयं पात्रेषु यष्टव्यं च यथाविधि ॥
तस्यार्जने महाक्लेशः पालने च द्विजोत्तमाः।
तथासद्विनियोगेन विज्ञातं गहनं नृणाम् ॥
एवमन्यैस्तथा क्लेशैः पुरुषा द्विजसत्तमाः।
निजाञ्जयन्ति वै लोकान्प्राजापत्यादिकान्क्रमात् ॥
योषिच्छुश्रूषणाद् भर्तुः कर्मणा मनसा गिरा।
तद्धिता शुभमाप्नोति तत्सालोक्यं यतो द्विजाः ॥
नातिक्लेशेन महता तानेव पुरुषो यथा।
तृतीयं व्याहृतं तेन मया साध्विति योषितः ॥
(विष्णुपु० ६। २। २५—२९)

'हे द्विजोत्तमगण ! पुरुषोंको अपने धर्मानुकूल प्राप्त किये हुए धनसे ही सर्वदा सुपात्रको दान और विधिपूर्वक यज्ञ करना चाहिये। इस द्रव्यके उपार्जन तथा रक्षणमें महान् क्लेश होता है और उसको अनुचित कार्यमें लगानेसे भी पुरुषोंको जो दुःख भोगना पड़ता है, वह कठिनाई मालूम ही है। विप्रवरो ! इस प्रकार पुरुषगण इन तथा ऐसे ही अन्य कष्टसाध्य उपायोंसे क्रमशः अपने प्राजापत्य आदि शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं; किंतु स्त्रियाँ तो केवल तन-मन-वचनसे पतिकी सेवा करनेसे ही उनकी हितकारिणी होकर पतिके समान शुभ लोकोंको, जो पुरुषोंको अत्यन्त परिश्रमसे मिलते हैं, अनायास ही प्राप्त कर लेती हैं। इसीलिये हे ब्राह्मणो ! मैंने तीसरी बार यह कहा था कि स्त्रियाँ श्रेष्ठ हैं।'

इसी प्रकार शास्त्रोंमें सभी जगह यह प्रसिद्ध है कि पतिकी सेवामात्रसे ही स्त्री परम गतिको प्राप्त हो जाती है।

श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके अरण्यकाण्डमें कहा है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा॥
बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियोंको केवल पतिकी सेवामात्रसे ही बिना ही परिश्रम और सुगमतासे परम गतिकी प्राप्ति हो जाती है। इतना ही नहीं, वह पातिव्रत्यधर्मके प्रभावसे अपने पतिको भी परमधाममें ले जाती है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें आया है कि शुभा नामकी पतिव्रता स्त्री पातिव्रत्य धर्मका पालन करती हुई पतिसहित भगवान्के परम धामको चली गयी। उसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्ने यह कहा है कि शुभा पतिव्रता मेरे समान है, वह अपने सतीत्वके प्रभावसे ही भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंकी बातें जानती है।

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें वर्णन आता है कि कृकल वैश्यकी पत्नी सुकलाको उसके पातिव्रत्यके प्रभावसे प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र आदि देवताओंने साक्षात् दर्शन देकर वर माँगनेको कहा था। उस समय कृकलने पूछा—'देवताओ ! आपलोग मेरे किस पुण्यके कारण पत्नीसहित मुझे वर देने पधारे हैं।' तब इन्द्रने कहा—'हमलोग तुम्हारी धर्मपत्नी सती सुकलाके पातिव्रत्यसे संतुष्ट होकर तुम्हें वर देना चाहते हैं।' सुकलाके सदाचारका माहात्म्य सुनकर उसके पति कृकल बड़े हर्षित हुए। तत्पश्चात् उन दोनोंके द्वारा भगवान्की भक्ति और धर्ममें अनुराग-प्राप्तिका वर माँगनेपर देवतागण उन्हें अभीष्ट वर देकर पतिव्रताकी स्तुति करते हुए अपने लोकको चले गये।

यदि कहें कि 'पति महान् नीच और नरकमें ले जाने योग्य पाप कर्म करनेवाला है तथा उसकी स्त्री पतिव्रता है तो वह स्त्री पतिके साथ नरकमें जायगी या उत्तम गतिको प्राप्त होगी ?' तो इसका उत्तर यह है कि पातिव्रत्य-धर्मके पालनके प्रभावसे वह अपने पतिसहित उत्तम गतिको प्राप्त होगी। उस स्त्रीके पातिव्रत्यके प्रभावसे उसका पति भी शुद्ध और परम पवित्र हो जायगा। पातिव्रत्य-धर्मका पालन करनेवाली स्त्रीकी दुर्गति तो कभी हो ही नहीं सकती और पतिसे उसका वियोग भी नहीं होता। ऐसी परिस्थितिमें उसका पति ही उसके प्रभावसे परम पवित्र हो जाता है और वह अपनी पत्नीसहित उत्तम गतिको प्राप्त कर लेता है।

इसीलिये महामुनि वेदव्यासजीने स्त्रियोंको श्रेष्ठ कहा है और उनको अतिशय धन्यवाद दिया है। अतएव सुहागिन माता-बहिनोंको ऐसा स्वर्ण-अवसर कभी हाथसे नहीं जाने देना चाहिये, अपि तु मन, वचन, कर्मसे अपने पातिव्रत्य-धर्मका तत्परतासे पालन करके अपनी आत्माका कल्याण शीघ्रातिशीघ्र कर लेना चाहिये; अन्यथा यदि यह अवसर हाथसे चला जायगा तो महान् पश्चात्ताप करना पड़ेगा; क्योंकि स्त्रीजातिके कल्याणके लिये भगवान्ने यह बहुत ही उत्तम और सरल उपाय बताया है।

इस प्रकार इस विशेषाङ्कमें श्रीनारदपुराण और श्रीविष्णुपुराण इन दो पुराणोंका अनुवाद संक्षेपमें दिया गया है। इन दोनों महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध पुराणोंके संक्षेप करनेके बहाने इनका विशेष मनोयोगपूर्वक अध्ययन करनेसे मुझे तो बहुत ही लाभ हुआ है।

शास्त्रोंमें पुराणोंकी बड़ी महिमा गायी गयी है। वेदोंकी भाँति पुराण भी हमारे यहाँ अनादि माने गये हैं। उनका रचयिता कोई नहीं है। श्रीवेदव्यासजी भी इनके संकलन-कर्ता तथा संक्षेपक ही माने गये हैं। इसीलिये वेदोंके बाद पुराणोंका ही हमारे यहाँ सबसे अधिक सम्मान है। पुराणोंमें लौकिक और पारलौकिक उन्नतिके अनेक महत्त्वपूर्ण साधनोंका वर्णन मिलता है, जिनको पढ़-सुनकर और फिर अनुष्ठानमें लाकर मनुष्य परम पदतक प्राप्त कर सकता है। अतएव जिन

प्रकार त्रैवर्णिकोंके लिये वेदोंका स्वाध्याय नित्य करनेका विधान है, उसी प्रकार पुराणोंका पठन-श्रवण और मनन भी सबको नित्य करना चाहिये। पुराणोंके इस महत्त्व और उपयोगिताको लक्ष्यमें रखकर ही 'कल्याण'में इनका संक्षिप्त अनुवाद छापनेकी योजना की गयी है। इससे भारतीय जनताका कुछ भी हित होगा तो हम अपने प्रयासको सफल मानेंगे। अन्तमें हम अपना यह नगण्य प्रयास श्रीभगवान्‌के पावन चरणकमलोंमें अर्पण करते हैं।

येन सर्वमिदं ततम्

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती)

भगवान् शङ्कराचार्यने ब्रह्मका स्वरूप समझाते हुए एक प्रसंगमें लिखा है—

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले॥

ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। यह जो कुछ स्थावर-जङ्गमात्मक जगत्-रूपमें प्रतीत होता है, सब उसीसे व्याप्त है। उसके साथ एक रूप होकर ही स्थित है। इसी प्रकार गति-क्रियात्मक जो कुछ व्यवहार चलता हुआ दीख पड़ता है, वह भी उसकी सत्तासे ही चल रहा है। शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ—ये सभी स्वभावसे जड हैं; तथापि उनसे जो व्यवहार होता है, वह केवल उसकी सत्ताके कारण ही होता है। इस प्रकार ब्रह्म केवल सर्वव्यापक ही नहीं है, बल्कि जगत्‌के रूपमें तथा उसके सारे व्यवहारोंके रूपमें वही दिखलायी देता है। अब दृष्टान्तद्वारा यह समझाते हैं कि ब्रह्म किस प्रकार व्याप्त हो रहा है। जिस प्रकार दूधमें घी सर्वत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत्‌में तथा इसके सारे व्यवहारोंमें ओत-प्रोत हो रहा है। दूधका एक भी बूँद ऐसा नहीं होता, जिसमें घी न हो, उसी प्रकार इस जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें ब्रह्म न हो।

अब यहाँ 'ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हो रहा है' यह समझना चाहिये। व्याप्त हो रहा है अर्थात् जिस प्रकार वस्त्रमें सूत व्याप्त हो रहा है, अँगूठीमें सोना व्याप्त रहता है, घड़ेमें मिट्टी व्याप्त रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म सब चराचर भूतोंमें व्याप्त हो रहा है। वस्त्रमेंसे सूत निकाल लें, अँगूठीमेंसे सोना निकाल लें अथवा घड़ेमेंसे मिट्टी निकाल लें तो वस्त्र, अँगूठी या घड़ेका नाम-निशान भी न रहे। इसी प्रकार ब्रह्मके बिना कोई भी दृश्य पदार्थ टिक या रह नहीं सकता। परंतु जिस प्रकार वस्त्रके बिना सूत रहता है, अँगूठीके बिना सोना रहता है और घड़ेके बिना मिट्टी रहती है, उसी प्रकार जगत्‌के न रहनेपर भी ब्रह्म तो रहता ही है। यानी जगत् जब नहीं था, उस समय भी ब्रह्म था। इस समय जो जगत् दीख पड़ता है, वह भी ब्रह्मकी सत्तासे ही दीखता है और जब जगत् लयको प्राप्त हो जायगा, तब भी ब्रह्म तो रहेगा ही। इस प्रकार ब्रह्मकी सत्ता त्रिकालसे बाधित नहीं है। जब जगत् आदि या अन्तमें नहीं होता, बल्कि बीचमें ही दीख पड़ता है, तब भी वह ब्रह्मकी सत्तासे ही दीखता है, यानी ब्रह्म ही जगत्‌का आश्रय है। यह बात श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार समझायी गयी है—

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥

जिस अधिष्ठानमें जगत् उत्पन्न हुआ है और जिसमें फिर लयको प्राप्त होता है, वह उसका आश्रय कहलाता है। उस अधिष्ठानको कहीं तो परम तत्त्व कहा है, तो कहीं ब्रह्म कहा है और उसीको कहीं परमात्मा भी कहा है। शब्द केवल पृथक्-पृथक् हैं, परंतु वस्तुतत्त्व एक ही है। और वही सबका आश्रय भी है। फिर भागवतमें दूसरे प्रसङ्गमें कहा है—

'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।'

अर्थात् ब्रह्म कहो, आत्मा या परमात्मा कहो अथवा भगवान् कहो, वस्तु एक ही है, केवल पृथक्-पृथक् शब्दोंका प्रयोग है।

फिर सूक्ष्मतापूर्वक देखें तो ब्रह्मकी सर्वव्यापकता दिखलानेमें यह दृष्टान्त भी अधूरा ठहरता है; क्योंकि दृष्टान्तमें सूत, सोना और मिट्टी रूपान्तरको प्राप्त होकर एक आकृतिविशेष धारण करते हैं; तब वे वस्त्र, अँगूठी और घड़ेके रूपमें प्रतीत होते हैं। परंतु ब्रह्म तो निर्विकारी और कूटस्थ है, इसलिये वह कभी जगत्का आकार धारण नहीं करता। कोई भी दूसरा रूप धारण किये बिना, अथवा तनिक भी रूपान्तरको प्राप्त हुए बिना, कोई भी वस्तु जो दूसरे रूपमें दीख पड़ती है, उसे शास्त्रोंमें 'विवर्त्त' कहते हैं। उसकी व्याख्या इस प्रकार है—

'अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः।'

वस्तुके स्वरूपमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन हुए बिना जब वह दूसरे रूपमें दीख पड़ती है तो उसका नाम 'विवर्त्त' होता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म कभी, जिस प्रकार सोना अँगूठीका आकार धारण करता है, उस प्रकार जगत्का आकार धारण नहीं करता। परंतु मायाके प्रभावसे कूटस्थ ब्रह्ममें जगत्की भ्रान्तिमात्र होती है। उसी प्रकार, जैसे धुँधले प्रकाशमें रस्सी पड़ी रहती है और उसमें सर्पका भ्रम होता है। रस्सीमें जब सर्प दीख पड़ता है तो रस्सी कहीं अपना स्वरूप छोड़कर सर्पका आकार धारण नहीं करती, वह तो अपने मूल स्वरूपमें ही पड़ी रहती है, परंतु धुँधले प्रकाशके कारण उसमें सर्पकी भ्रान्ति प्रतीत होती है।

यहाँतक यह निश्चय किया गया कि इस जगत्में जो कुछ नामरूपात्मक दीख पड़ता है, अर्थात् चराचर प्राणी-पदार्थोंके रूपमें दीखता है, वह सभी भगवान्का ही रूप है, और जो-जो गति या क्रियात्मक व्यवहार दीख पड़ता है, वह केवल भगवान्की लीला है। श्रीशङ्कराचार्यने 'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग किया है, जब कि मैंने यहाँ 'भगवान्' शब्दका प्रयोग किया है; क्योंकि भागवतके दो अवतरणोंसे हमने देख लिया कि ये दोनों शब्द एक दूसरेके पर्याय ही हैं, अर्थात् शब्दमात्र विभिन्न हैं, परंतु वाचक एक ही वस्तुके हैं। जैसे विश्वनाथ, नीलकण्ठ, वृषभध्वज एक महादेवके ही विभिन्न नाम हैं।

अब भगवान् किस प्रकार जगत्‌रूपमें तथा उसके समस्त व्यवहारोंके रूपमें दीख पड़ता है, इसे गीतामें देखना चाहिये, यही आजका विषय है।

गीताके सातवें अध्यायमें भगवान् जगत्की उत्पत्तिका वर्णन करते हैं और कहते हैं कि इतनी ही बात यदि ठीक-ठीक समझमें आ जाय तो मेरे स्वरूपका पूर्ण ज्ञान हो जाय और फिर कुछ और जाननेके लिये न रहे। पहले तो भगवान् अपनी भूत प्रकृतिका परिचय देते हैं और उसके बाद जीव प्रकृतिका स्वभाव समझाते हैं। पश्चात् छठे श्लोकमें कहते हैं कि—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

जिस प्रकार मनुष्य दो हाथोंसे ताली बजाता है, उसी प्रकार इन दोनों प्रकृतिके संयोगसे ही यह चराचर जगत् उत्पन्न होता है और इससे यह समझना चाहिये कि यह सारा जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही इसकी स्थिति है और अन्तमें मुझमें ही लयको प्राप्त होता है। इस कारण हे अर्जुन!

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(गीता ७। ७)

इस जगत्में मेरे सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है, अर्थात् मैं ही भूत-भौतिक प्रपञ्चके रूपमें दीखता हूँ।

और जैसे एक ही सूत समस्त मणियोंके समूहको धारण किये रहता है, वैसे ही मैंने अनन्त ब्रह्माण्डको धारण कर रक्खा है।

इस प्रकार इस प्रसंगमें भगवान्‌ने बतलाया कि सर्व रूपोंमें मैं ही हूँ और जो व्यवहार होता दीख पड़ता है, वह मेरी लीलामात्र है। फिर आगे चलकर विभूति-योगमें तो भगवान् जगह-जगह यह कहते हैं कि 'मैं ही सर्वरूप हो रहा हूँ—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
(गीता १० । ८)

मुझसे ही चराचर जगत उत्पन्न होता है और अपना-अपना व्यवहार करता है, ऐसा समझकर जो ज्ञानी पुरुष मेरा भजन करते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं।

आगे चलकर फिर कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
(गीता १० । २०)

हे अर्जुन ! मैं प्राणीमात्रके हृदयमें अन्तरात्मा रूपसे रहता हूँ। जगत्‌का आदि मैं हूँ, मध्य भी मैं हूँ और अन्तमें भी मैं ही रहता हूँ अर्थात् यह नामरूपात्मक जगत् मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही इसकी स्थिति रहती है और अन्तमें मुझमें ही यह लयको प्राप्त होता है।

अन्तमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(गीता १० । ३९)

हे अर्जुन ! सब भूतोंका बीज भी मैं ही हूँ, अर्थात् जैसे बीजसे वृक्ष होता है, उसी प्रकार मुझसे यह जगत् प्रकट हुआ है। इसलिये यह स्थावर-जङ्गम जो कुछ जगत्‌रूपमें दीख पड़ता है, मेरे सिवा कुछ भी नहीं है अर्थात् मैं ही सब रूपोंमें प्रकट हो रहा हूँ।

इस प्रकार भगवान्‌की विभूतिका विस्तार सुनकर अर्जुनको भगवान्‌की महिमा प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा हुई। अबतक उनका 'श्रीकृष्ण मेरे मामाके लड़के हैं'—यह भाव निर्मूल नहीं हुआ था। परंतु जब भगवान्‌का विश्वरूप देखा, तब अर्जुनको प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया कि ये तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इससे भगवान्‌की स्तुति करते हुए वे कहने लगे—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥
(गीता ११ । ३९)

हे भगवन् ! आप ही आदिदेव तथा पुराणपुरुष हैं। इस विश्वके परम आश्रयस्थान भी आप ही हैं। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी रूप भी आप ही हैं और भक्तको प्राप्त करने योग्य धाम भी आप ही हैं। आप ही अपने असंख्य और अपार रूपोंके द्वारा इस विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं। इसी कारण अर्जुन विश्वरूपको देखनेके बाद कहते हैं कि नामरूपात्मक यह जगत् जो दीख पड़ता है, वह सब ईश्वररूप ही है।

यहाँतक भगवान्‌के ही श्रीमुखसे निकले हुए शब्दोंसे हमने जान लिया कि यह चराचर विश्व जो दीख पड़ता है, भगवान्‌का ही स्वरूप है और इसमें होनेवाले सारे व्यवहार भगवान्‌की लीला ही है। यहाँ सर्वत्र भगवान्‌ने 'मैं' कहकर प्रथम पुरुषका प्रयोग किया है, अब तृतीय पुरुषका प्रयोग करके इसी बातको भगवान् कैसे समझाते हैं, यह देखना चाहिये।

इस विषयका पहला उल्लेख दूसरे अध्यायमें मिलता है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥
(गीता २ । १७)

शरीरका नाश होनेके बाद कभी आत्माका नाश नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी और अव्यय तत्त्व है—यह समझाते हुए भगवान् कहते हैं कि इस आत्मतत्त्वको तुम अविनाशी अर्थात् विनाशरहित समझो। वह सर्वव्यापक होकर चराचरमें व्याप्त हो रहा है। और इस कारण इस अव्यय आत्माका कभी कोई भी विनाश नहीं कर सकता।

इसके बाद आठवें अध्यायमें यह उल्लेख है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥
(गीता ८।२२)

जो आत्मतत्त्व सब चराचरमें व्याप्त हो रहा है, वही परम पुरुष है और उसीमें भूतमात्र अवस्थित है। वह अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त होता है। अनन्य भक्तिका अर्थ इतना ही है कि जो भक्ति दूसरी किसी कामनाकी सिद्धिके लिये नहीं होती, वह अनन्य भक्ति कहलाती है और ऐसी अनन्य भक्तिके द्वारा ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।

इसके बाद नवम अध्यायमें भगवान् फिर प्रथम पुरुषका प्रयोग करते हुए कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
(गीता ९।४)

'यह सारा जगत् मुझसे व्याप्त है, यानी मैं समस्त चराचर भूतोंमें व्याप्त हो रहा हूँ। इस प्रकार सब भूत मुझमें हैं, परंतु मैं उनमें नहीं हूँ।' इस श्लोकमें दो बातें विशेषरूपसे समझने योग्य हैं—

(१) श्रीकृष्णभगवान् इस समय अर्जुनके रथके सारथि हैं और एक हाथमें घोड़ेकी लगाम और दूसरेमें चाबुक लेकर बैठे हैं। इससे कदाचित् अर्जुन यह प्रश्न करे कि महाराज! आप तो यहाँ मेरे सामने बैठे हैं और फिर कहते हैं कि 'मैं सारे जगत्‌में व्याप्त हो रहा हूँ' यह कैसे माना जाय? इसलिये बाढ़के प्रवाहको रोकनेके लिये जैसे बाँध बाँधा जाता है, वैसे ही भगवान् पहलेहीसे उसमें रोक लगाकर कहते हैं—'मया अव्यक्तमूर्तिना'। अपने अवतारस्वरूपमें मैं रथपर तेरे सामने बैठा हूँ, यह बात ठीक है; परंतु मेरा एक दूसरा अव्यक्तस्वरूप भी है, उस स्वरूपसे मैं जगत्‌में सर्वत्र व्याप्त भी हो रहा हूँ। व्यक्त यानी जिसका ज्ञान इन्द्रियोंसे हो सके, इसलिये अव्यक्तका अर्थ यह है कि इन्द्रियोंसे जिसका ज्ञान न हो, अर्थात् अतीन्द्रिय या इन्द्रियोंसे अगोचर। इस प्रकार अव्यक्त मूर्तिका अर्थ हुआ—अतीन्द्रिय व्यापक सूक्ष्म शरीरके द्वारा व्याप्त।

(२) 'न चाहं तेष्ववस्थितः' मैं सर्वभूतोंमें नहीं हूँ। परमात्माके व्यापक स्वरूपके केवल एक ही अंशमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ करते हैं, तब फिर वह इस एक जगत्‌में कैसे समा सकता है? इस प्रकार अपने विराट् स्वरूपको समझानेके लिये भगवान्‌ने इस शब्दका प्रयोग किया है। श्रुति भी कहती है—

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

भगवान्‌के एक ही पादमें अनन्त ब्रह्माण्ड रहते हैं और शेष तीन पाद दिव्य स्वरूपमें ज्यों-के-त्यों हैं।

इसके बाद अठारहवें अध्यायमें उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।

'जिन परमात्मासे समस्त चराचर जग हुए हैं और जो सर्वभूतोंमें अन्तर्यामी

शिशुओंका था। ऊपर निदाघके सूर्य तप रहे थे। वनस्थलीके इस भागमें वृक्षोंकी शीतल छाया भी समाप्त हो चुकी थी। उन्मुक्त गगन था और नीचेकी धरती। वहाँ—बस सम्पूर्ण वृन्दावनमें एकमात्र उस देश-विशेषमें ही—हरीतिमाशून्य-सी हो रही थी। अत्यन्त निकटमें ही तपनतनयाके सुन्दर मञ्जुल प्रवाहके दर्शन अवश्य हो रहे थे। पर वहाँ तटपर भी केवल एक कदम्बतरुके अतिरिक्त किसी भी वृक्षका चिह्नतक न था। आश्चर्य है, वहाँ तृण, वीरुध उगतक नहीं सके थे। बस, केवल रविनन्दिनी श्रीयमुनाकी लहरें ही वहाँ एकमात्र आकर्षणकी वस्तु थीं। विशेषतः तृषित गायें उन्हें देख लेनेके अनन्तर, इस मध्याह्नके समय वहाँ जाकर जलपानके द्वारा अपनी तृषा शान्त करनेका लोभ संवरण कर सकें, यह कैसे सम्भव था। इसीलिये स्वाभाविक ही गायें उस ओर ही मुड़ीं और पालक तो उनके पीछे चलेंगे ही। इस प्रकार सभी उस निर्वृक्ष तटपर ही जा पहुँचे; व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण-चन्द्रकी अचिन्त्य-लीला-महाशक्ति उन्हें वहाँ उस प्रसिद्ध कालिय-ह्रदपर ले आयीं, जहाँ नीलसुन्दरकी कालियदमन-लीलाका प्रकाश होगा—

सिसु सुरभी तिहि बेर, त्रखावंत जल के भये।
कालीदह कहँ हेरि चले सीघ्र पहुँचे तहाँ॥

अस्तु, ग्रीष्मतापसे व्यथित वे गायें आते ही उस जल-प्रवाहमें मुँह डालकर प्यास शान्त करने लगीं। श्री-यमुनाकी उस अमृततिरस्कारिणी धाराका ही वे सदा पान करती आयी हैं, इस धाराने सदा ही उनके प्राणों-में शीतलताका संचार किया है, इसलिये ही नित्यके अभ्यासवश सबने जल पीना आरम्भ किया; किंतु आज वह चिरपरिचित तृप्ति उन्हें न मिली; तृप्ति दूर, वारि-स्पर्शमात्रसे कण्ठमें कुछ बूँदें उतरनेभरसे उनके प्राण झुलसने लगे। वे पशु इस बातको नहीं जानते कि यहाँ तपनतनयाके इस ह्रदमें ही कालिय नागका निवास है, उसके सम्पर्कसे इस ह्रदका प्रत्येक जलकण विषपूर्ण हो चुका है; उन्हें इसका जलपान तो क्या, इसकी सीमामें भी प्रविष्ट नहीं होना चाहिये था। और इस ज्ञानके अभावमें ही स्वभाववश वे इस सद्यः प्राणहारक जलको स्पर्श कर चुके थे, उसका कुछ अंश पी चुके थे। इसीलिये जो परिणाम होना था, वही हुआ। एक ही साथ सबके शरीरोंमें, उनके स्नायुजालके प्रत्येक कणमें आग-सी जल उठी और देखते-ही-देखते वे सब-की-सब गायें वहीं उस तटपर ही प्राणशून्य होकर गिर पड़ीं तथा उनके पालकवर्ग, ओह! लीलाशक्तिकी भी विचित्र महिमा है। उन मूक गो-समूहोंके लिये तो, पशुस्वभाववश उन्होंने जलपान कर लिया, यह हेतु किसी अंशमें समीचीन बन सकता है—किसी अंशकी बात इसीलिये कि सचमुच ही सच्चिदानन्द परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रकी लीलामें उपकरणभूता ये गायें प्राकृत-सृजनकी वस्तुएँ नहीं हैं; किंतु वे गोपशिशु तो श्रीदाम, सुबल आदि प्रायः सभी जानते थे कि एक महासर्पका उस ह्रदमें निवास है। अपने पिता, पितृव्योंसे सुन चुके थे; वहाँ उस स्थानकी ओर पैर रखनेके लिये सर्वथा निवारित हो चुके थे। फिर भी उनका वह ज्ञान उस समय लुप्त हो गया। हतबुद्धि-से हुए वे भी अतिशय द्रुतवेगसे दौड़कर उन गायोंके पीछे-पीछे आ पहुँचे। इतना ही नहीं, वे आये थे इस उद्देश्यसे कि शीघ्र-से-शीघ्र इन पशुओंको पीछेकी ओर हाँक लायेंगे, किंतु यहाँ आनेपर वह स्मृति भी किसीने पोंछ दी। उन्हें प्यास तो थी ही, उन सबने भी अपनी अञ्जलि उस प्रवाहमें डाल ही दी, अञ्जलिका किञ्चिन्मात्र जल अपने कण्ठमें भी डाल ही लिया। बस, जैसे इधर गिरीं गायें, वैसे ही, सर्वथा साथ-ही-साथ क्षणभरमें वहीं गिर पड़े, प्राणशून्य हुए वे सब-के-सब गोपशिशु!

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम्॥

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ४८-४९)

गोप धेनु रबि कर लहि तापा । ग्रीषम धूप घोर तन व्यापा ॥
तृषित महा व्याकुल मन तासू । गरल बिदूषित जल पिय आसू ॥
दैवीहत चित विष जल जबही । परसत मृतक भए सब तबही ॥
गिरि गे सकल सखा अरु धेनू । जमुना तीर तीर सुभ रेनू ॥

वास्तवमें तो सृजन-संहारसे परे, आदि-अन्तविहीन नित्य-जीवनमें अवस्थित इन भगवत्पार्षदोंके लिये प्राण-शून्य होनेकी बात बनती नहीं । यह तो अघटनघटना-पटीयसी योगमायाका ही वैभव है । नीलसुन्दरकी लीला-मन्दाकिनीका, उनसे निःसृत प्रतिक्षण नूतन रस-प्रवाह-का सौन्दर्य और भी निखर उठे, इस उद्देश्यसे उनके प्राण आच्छादित हो गये हैं । योगमायाके अञ्चलकी छायामें उनके उन चिन्मय प्राणोंका व्यापार अदृश्य बन गया है, स्थगितमात्र हो गया है, और वे उस रूपमें दीख पड़ रहे हैं । यह एक विचित्र-सी मूर्च्छा है उनकी—

व्यसव इति लीलासौष्ठवार्थं योगमाययैव नित्यानामपि तेषामसूनाच्छाद्य तथा दर्शनात् ।
(सारार्थदर्शिनी)

जो हो, यहाँ जब इतना हो चुका, तब कहीं श्रीकृष्णचन्द्र सखाओंको ढूँढ़ते हुए सघन वनकी सीमा पारकर इस शुष्क वृक्षशून्य भूभागपर आये और तत्क्षण दूरसे ही उनकी दृष्टि इस करुण दृश्यपर भी जा पहुँची । उस समय व्रजेन्द्रनन्दनकी कैसी दशा हुई—ओह ! स्वयं वाग्वादिनीमें भी शक्ति कहाँ है जो इसपर किंचिन्मात्र प्रकाश दे सकें । करुणासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दनके अन्तस्तलमें उच्छलित कृपामयी ऊर्मियोंका, किसी एक करुणालहरीके एक कणका भी वास्तविक चित्रण आज-तक कहीं किसीके द्वारा भी हुआ जो नहीं । यत्किंचित् चित्रण हुआ है, हो सकता है तो केवल उनके बाह्य अनुभावोंको लेकर ही—सो भी उनकी चरणनखचन्द्रिका-का प्रकाश बुद्धिमें, मन, प्राण, इन्द्रियोंमें परिव्याप्त हो जाय और उस आलोकमें उन चिन्मय अनुभावोंके दर्शन हों तब । अतएव किसी भी बड़भागी लीलादर्शीके प्राणोंकी झंकृति भी वाणीद्वारसे इतनामात्र ही व्यक्त कर सकती है—एक मुहूर्तके अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ आये थे और तुरंत दूरसे ही उन्होंने उन सबको प्राणरहित देख भी लिया । विद्युत्-वेगसे घटनास्थलपर भी वे आ पहुँचे । पर हाय ! उनकी उस नवनीरदश्यामल मूर्तिपर, आह ! सौन्दर्यनिधि उस नील कलेवरपर क्षण-भरमें ही, अन्तस्तलकी व्यथाके न जाने कितने शत-सहस्र काले आवरण जो आ गये ! हाय रे ! उनके श्याम श्रीअङ्गोंपर एक कैसी-सी, पहलेसे सर्वथा भिन्न जातिकी एक विचित्र श्यामता, नहीं-नहीं, व्यथाजन्य म्लानताका पुञ्ज जो बिखर गया । ओह ! ……

अथ मुहूर्त्तपूर्त्तावागतोऽयं तोयदश्यामलमूर्त्तिर्मूर्त्तानिव तान् पश्यन्नन्यादृशश्यामलतामाजगाम ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

और तब आयी जडिमा । श्रीकृष्णचन्द्र स्तब्ध खड़े हैं और सामने पड़ी हैं सर्वथा स्पन्दनशून्य असंख्य गायें और प्राणप्रिय सखाओंकी देह; किंतु मानो जडिमा-के लिये भी श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणोंका ताप इस समय असह्य बन गया और वह भी मानो भाग निकली । फिर तो श्रीकृष्णचन्द्र चीत्कार कर उठे—

या गावः खलु देवता व्रजसदामस्माकमुच्चैस्तरां
ये बालाश्च सदैव जीवतुलितास्तेऽमी विपन्नाः पुरः ।
हा ! हन्त ! स्वयमस्मि तत्सहचरः किं भ्रातरं मातरं
तातं सर्वजनं च वच्मि मम धिक् चापल्यतः साहसम् ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'ओह ! ये गायें, नहीं-नहीं, निश्चितरूपसे हम दोनोंकी व्रजवासियोंके सर्वाधिक आदरणीय देवता ! तथा ये हमारे नित्य प्राणतुल्य बालक ! आह ! कैसी विपन्न दशामें ये सामने पड़े हैं ! और मैं स्वयं, हाय रे ! इनका सहचर हूँ ! अब मैं क्या उत्तर दूँगा दाऊ भैयाको ? मैयासे, बाबासे क्या कहूँगा ? समस्त

पुरवासियोंको क्या बताऊँगा ? आह ! मैं गोसंचारण करने आज इस पथसे—कालियह्रदकी ओर आया ही क्यों ? धिक्कार है मेरी चञ्चलताजन्य ऐसे साहसको ।'

श्रीकृष्णचन्द्रका हृदय अनुतापवश विगलित हो उठा । वे क्रमशः एक-एकका मुख देखने लगे । फिर तो हृदयका वह द्रवमात्र दृगोंमें भर आया । उनके नयनसरोरुह आर्द्र हुए एवं अश्रुवारिधारा कपोलोंपर बह चली—

श्रीव्रजकुलचन्द्रमसः क्रमशः सर्वेषां मुखमभिदृत्त्वदृशः स्तिमितीकृतनिजाधारा नेत्राम्बुधारा निपेतुः । (श्रीगोपालचम्पूः)

और यह लो ! जिस गोपशिशुपर, गायपर, उनकी वह अश्रुस्राविणी, नहीं-नहीं अमृतवर्षिणी, दृष्टि पड़ती जा रही है, वे सब जीवित होकर उठते जा रहे हैं ।

× × × यथाक्रमं सर्वे चेतयामासुः ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

इसमें आश्चर्य ही क्या है ? अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र भले कितने ही मुग्ध वेशमें, अपने समस्त ऐश्वर्यको बाल्यावेशके अतलतलमें डुबाकर अपने स्वरूपभूत लीलारसका पान क्यों न करें, किंतु समयपर ऐश्वर्यशक्ति जाग उठेगी ही । श्रीशेष, शिव आदि योगेश्वरोंके भी ईश्वर व्रजराजनन्दनका वह अप्रतिम ऐश्वर्य ठीक अवसरपर क्रियाशील हो ही जायगा । बाल्यलीलाविहारीकी तो आँखें झर रही थीं, उन्हें उस अवस्थामें देख-देखकर अनुताप-विह्वल हुए वे क्रन्दन कर रहे थे, किंतु उसी अश्रुपथसे उनका स्वरूपभूत ऐश्वर्य भी तो निःसृत हो रहा था । फिर वे अनन्यगति—एकमात्र श्रीकृष्णचन्द्रपर ही निर्भर करनेवाली गायें, सर्वथा उनपर ही आश्रित वे गोपशिशु क्यों न पुनर्जीवन लाभ करें ? उन्होंने किया ही, श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें नवजीवन प्रदान किया ही—

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १५ । ५०)

अब उनकी आँखें मिलनेभरकी देर थी, बस, श्रीकृष्णचन्द्रने लपककर प्रत्येकको ही—सर्वथा एक समयमें ही एक साथ पृथक्-पृथक्—अपने भुजपाशमें बाँध लिया । प्राकृत बुद्धिमें यह शक्ति नहीं कि उसका समाधान कर दे, पर वास्तवमें यह आलिङ्गन संघटित हुआ इस रूपमें ही—

युगपदेव सर्वान् कृष्णः पृथक् पृथगेवाश्लिष्टवान् ।
(श्रीगोपालचम्पूः)

शिशु एवं श्रीकृष्णचन्द्रका यह मिलन भी देखने ही योग्य है—

दृष्टिर्बाष्पमिता तनुस्तिमितितामन्तर्मतिर्लीनतामित्थं सङ्गतिसाधने तु निखिलेऽभीक्ष्णं गते व्यर्थताम् ।
किं सौख्यं किमसौख्यमेतदिति च स्फूर्तिं विनावस्थितौ कश्चित्कोऽपि न किञ्चिदुज्झितुमभूच्छक्तिप्रयुक्तश्चिरम् ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'उन बालकोंकी दृष्टि वाष्पधारासे अवरुद्ध हो गयी । शरीर निश्चेष्ट हो गया । अन्तश्चेतना लुप्त हो गयी । इस प्रकार मिलनेके सभी साधन जब बारंबार व्यर्थ होते गये—यहाँतक कि उन्हें इस बातका भी भान नहीं रहा कि यह सुखकी अवस्था है या दुःखकी, उस समय बड़ी देरतक तो कोई किसीको किंचिन्मात्र भी छोड़नेमें समर्थ ही न हुआ ।'

और वे जब प्रकृतिस्थ हुए तो गायोंकी दशा भी निराली ही बन गयी—

गावो हुङ्कृतिघोषणावलयिताः कृष्णं लिहन्त्यश्चिरात्तद्बाहुद्वयवेष्टनेन विलसत्कण्ठ्यः समुत्कण्ठिताः ।
यत्नात्त्याजिततद्ग्रहाश्च पशुपैः क्षिप्ताश्च तस्थुश्चिरं तास्तद्वक्त्रसुधाकरद्युतिसुधा पीतावलत्सेक्षणाः ॥
(श्रीगोपालचम्पूः)

'वे गायें उच्च स्वरसे हुंकार करती हुई श्रीकृष्णचन्द्रको

घेरकर खड़ी हो गयीं; उत्कण्ठायुक्त होकर उन्हें बड़ी देरतक चाटती रहीं। नीलसुन्दर उन्हें गलबाहीं देकर खड़े थे, इससे उनकी ग्रीवा अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। उनके पालक शिशुओंने आकर अत्यधिक प्रयास कर उन्हें श्रीकृष्णके बाहुपाशसे मुक्त किया, वे उन्हें वहाँसे हटाने लगे, किंतु गौएँ तो उनके मुखचन्द्रसे अपने अतृप्त नेत्रोंको हटा न सकीं, बड़ी देरतक ज्यों-की-त्यों खड़ी रहीं। उस अनुपम सुधाकरकी सुधाका पान करके भी वे तृप्त न हो सकीं।'

अस्तु, उन बालकोंके नेत्रोंमें आश्चर्य तो अब भी भरा है, अतिशय विस्मित हुए वे सब परस्पर एक दूसरेको देख रहे हैं—

आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम्।
(श्रीमद्भा० १०। १५। ५१)

अवश्य ही उन सरलमति बालकोंको यह अनुमान होते देर न लगी कि वे पुनर्जीवित कैसे हो गये। विषकी ज्वालासे उनके प्राण समाप्त हो ही चुके थे; उन्हें मृत्युके इस पार तो पुनः लौटा लाये हैं उनके कन्हैया भैया ही—

अन्वमंसत तद्राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम्।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः॥
(श्रीमद्भा० १०। १५। ५२)

सखन इहै मन आनि, मरे जिए एहि काल हम।
कृस्न अनुग्रह जानि, मन हरषे अति प्रेम भर॥

फिर तो कन्हैया भैयाकी जय होनी ही है—

आपुस में सिसु मिलि कह्यौ, धनि धनि नंदकुमार।

नीलसुन्दरके अधरोंपर मन्द मुसकान है; किंतु उनकी दृष्टि केन्द्रित है कालियह्रदकी ओर। वे सोच रहे हैं कुछ और ही; कालियह्रदमें विहार करनेका मनोरथ निर्मित हो रहा है तथा शिशु व्यस्त हैं अपने कोटि-प्राणप्रतिम कन्नू भैयाके प्रति अपने स्नेहपूरित अन्तस्तलका आभार व्यक्त करनेमें—

प्रान बिनु हम सब भए ते, तुमहिं दियौ जिवाइ।
सूरके प्रभु तुम जहाँ तहँ हमहिं लेत बचाइ।

आइंस्टीनके सापेक्षवाद "Theory of Relativity" का हमारे ऋषियोंको ज्ञान

(लेखक—श्रीघनश्यामसिंहजी गुप्त)

मुझे कुछ दिनोंसे ऐसा लगने लगा है कि हमारे ऋषियोंको भौतिक विज्ञानके बहुत-से सिद्धान्तोंका दर्शन था। यह किस प्रकार हुआ, यह विषय पृथक् है। इस लेखका उद्देश्य बहुत सीमित है और यह कि भौतिक विज्ञानके नूतनतम आविष्कार, जो सापेक्षवादके नामसे ज्ञात है, उसका ज्ञान हमारे ऋषियोंको अवश्य था। अति सरल शब्दोंमें और साधारण लोगोंके समझनेकी भाषामें, आइंस्टीनका सापेक्षवाद क्या है, वह देखना है।

इस विश्वकी बहुत-सी मौलिक बातें, निरपेक्ष (Absolute) नहीं, सापेक्ष (Relative) मानी जाती हैं। जैसे—'गति'। गतिको सापेक्ष मानते हैं। प्रत्येक पिण्ड, प्रत्येक नक्षत्र, प्रत्येक ताराकी गति (Absolute) निरपेक्ष नहीं मानी जाती, सापेक्ष मानी जाती है। साधारण उदाहरण, जो प्रत्येक विद्यार्थीको पता है—वह दो रेलगाड़ियोंका एक ही दिशामें अथवा विरुद्ध दिशामें भागनेका है। जब दो रेलगाड़ी एक ही दिशामें भागती हैं तो उनमें बैठे यात्रीको दोनों 'धीमी' चलती दीखती हैं। उनकी गति वही प्रतीत होती है जो दोनों गतियोंका अन्तर है। और जब विरुद्ध दिशामें भागती हैं तो उनमें बैठे यात्रीको दोनों बहुत वेगसे चलती दीखती हैं। उनकी गति दोनोंकी गतियोंके योगके बराबर प्रतीत होती है। इसी प्रकार सारे विश्वके प्रत्येक गतिमान पिण्डकी बात है। छोटी-से-छोटी वस्तुसे लेकर चन्द्र, सूर्य और इनसे भी विशालतर और विशालतम ताराओंकी भी यही बात है; परंतु एक

वस्तु जो सर्वथा निरपेक्ष मानी जाती थी, वह समयकी गति थी। कालकी गतिको सर्वथा ही निरपेक्ष मानते थे। कालकी गति चाहे पृथ्वीपर हो, चाहे सूर्य-लोकमें हो, चाहे वह आकाश-गङ्गाके परे विश्वोंके ताराओंमें हो, सभी स्थानोंमें यह माना जाता था कि कालकी गति एक समान है। यदि इस पृथ्वीपर या सौर जगत्‌में अथवा आकाश-गङ्गाके विश्वके किसी खण्डमें एक पल या एक घंटा बीता है तो सभी विश्वोंमें वही एक पल या एक घंटा बीतेगा। जिस कालकी गतिको एक घंटा हम इस पृथ्वी आदिपर मानते हैं, उतनी ही कालकी गति उसी माप-दण्डसे सब विश्वोंमें एक ही घंटा होगा। यह कालका निरपेक्षवाद है। आइंस्टीनसे पहले पाश्चात्त्य वैज्ञानिक जगत्‌में यही सिद्धान्त माना जाता था। आइंस्टीनने इसका खण्डन किया और उसका कहना है कि साधारण क्रियाओंके परे यदि हम जायँ तो कालका निरपेक्षवाद सत्य नहीं। कालकी गति भी सापेक्ष होती है। और अनेक विश्वोंमें कालकी वही एक गति उसी एक मानको नहीं लाती। इस पृथ्वीपर या सौर जगत्‌में अथवा आकाश-गङ्गाके विश्वमें जिस कालका मान एक घंटेसे होता है उसी कालका मान उसी माप-दण्डसे अन्य लोकोंमें और अन्य विश्वोंमें न्यूनाधिक हो सकता है। एक घंटेका एक पल हो सकता है और एक युग हो सकता है। यह आइंस्टीनके सापेक्षवाद सिद्धान्तका एक निष्कर्ष है, जो ऐसी भाषामें है जिसे एक साधारण पुरुषके जो कि भौतिक विज्ञानका पण्डित नहीं, समझमें आ सकती है।

कालके इस सापेक्षवादका हमारे ऋषियोंको ज्ञान था या नहीं यह देखना है। मैं मानता हूँ कि इसका उनको ज्ञान था। इसका प्रमाण हमें रामायणके उत्तर-काण्डमें काकभुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें स्पष्ट मिलता है—

मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ। पुनि चितवत कोसलपुर गयऊँ॥
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गयउँ मुख माहीं॥
उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥

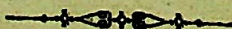
भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥
फिरत फिरत निज आश्रम आयउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गवाँयउँ॥
करउँ बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल ब्यापित मति मोरी॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥

देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसतहीं मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर॥

अब विचारिये 'उभय घरी महँ मैं सब देखा' दो घड़ीमें ही मैंने यह सब देखा। क्या देखा? अनेक ब्रह्माण्ड, अनेक लोक देखा। और वहाँ कितने कालतक रहे?

'एक एक ब्रह्मांड महुँ रहेउँ बरष सत एक।'
'भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कल्प सत एका॥'

और इन ब्रह्माण्डोंमें इतने वर्ष जो बीते वे केवल दो घड़ीमें बीते। एक स्थानके दो घड़ीका कालमान अन्य ब्रह्माण्डोंमें वर्षोंके कालमानके बराबर हो सकता है—ऐसा बतानेवाला या तो पागलोंका पागल है या वह तत्त्ववेत्ता है, जिसे कालकी सापेक्षताका दर्शन था। पागल तो थे नहीं। अतः हम इस अनिवार्य परिणाममें पहुँचते हैं कि उनको कालकी सापेक्षताका ज्ञान था। नूतन भौतिक अन्वेषणके और भी प्रसङ्ग हैं, जिनका ज्ञान हमारे ऋषियोंको था। एक दूसरा उदाहरण इस पृथ्वीकी आयुका है।



भगवान् विष्णुकी स्तुति

[अवतार-वर्णन]

(रचयिता—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

भक्तोंकी करुण पुकार सुन—तुम विविध रूप धर आये,
तुम विविध रूप धर आये ॥ ध्रुव० ॥

सत्त्वगुणी है विरद तुम्हारा,
फिर भी आदि दैत्यको मारा।
दुष्ट-दलनका तो प्रण प्यारा—
बन 'वराह' पातालसे पृथ्वी माताको लाये ॥ तुम विविध० ॥

फिर 'सुयज्ञमय' देह बनाकर,
अग्नि-प्रकाश रूपमें आकर।
सब संकटको दूर हटाकर—
'कपिलदेव' अवतार धर सब तत्त्वोंको समझाये ॥ तुम० ॥

सत्त्वरजस्तम अंश मिलाया,
'दत्तात्रय'का रूप बनाया।
काम-मोक्ष—संदेश सुनाया—
'सनकादिक' ऋषिवेषमें तप-संयम-नियम बताये ॥ तुम०॥

'नर-नारायण' आकृति-धारी,
ब्रह्मचर्य-महिमा विस्तारी।
'ध्रुव' बनकर ध्रुव-भक्ति-प्रचारी—
'पृथु' अवतार बनाय कर, धन-धान्यादिक उपजाये ॥ तुम० ॥

कर्मोंकी भरमार हुई जब,
'ऋषभदेव' अवतार धरा तब।
जग-जंजाल निवृत्त किये सब—
'हयग्रीव' बन सृष्टिमें फिर वेदोंको प्रकटाये ॥ तुम० ॥

'मत्स्य' रूप धर वेद उबारा,
'कच्छप' बने रत्न दातारा।
गजने आधा नाम पुकारा—
'हरि' बन नंगे पाँवसे वैकुण्ठ छोड़कर धाये ॥ तुम० ॥

बन नृसिंह 'हिरणाकुश' मारा,
श्री प्रह्लाद भक्त उद्धारा।
'हंस' रूप धर ज्ञान उचारा—
'मन्वन्तर' अवतार धर युग-युगके पाप हटाये ॥ तुम० ॥

'वामन' बन कर गर्व विदारा,
'धन्वन्तरि' बन स्वास्थ्य सुधारा।
'परशुराम' अद्भुत अवतारा—
धर्म-हेतु 'इक्कीस' बार क्षत्रिय निर्वंश बनाये ॥ तुम० ॥

दुर्जनता भूतलपर व्यापी,
'राम' बने मर्यादा स्थापी।
भीत हुए दुनियाके पापी—
'व्यास' विविध विज्ञानसे जगके गुरुदेव कहाये ॥ तुम० ॥

जब धर्मी पापोंसे हारे,
'कृष्ण' पूर्ण अवतार पधारे।
लीलामय बन दुःख निवारे—
'बुद्धरूप' बन प्रेमसे करुणाके कण बरसाये ॥ तुम० ॥

ईश्वर दूत पुत्र या पार्षद,
श्री जरथुस्त्र मसीह मुहम्मद—
जो जो भक्त नबी श्रद्धास्पद।
एक तुम्हारे अंशसे युग-युग विभूतियाँ पाये ॥ तुम० ॥

जब जब जैसे संकट आये,
तब तब तैसे रूप बनाये।
कलियुगने दुर्दश्य दिखाये—
'कल्किदेव' के रूपमें संतोंके ऊपर छाये ॥ तुम० ॥

कब अपना प्रण पूर्ण करोगे,
कब जगका दुख नाथ हरोगे।
कब भूमंडलपर विचरोगे—
दुष्टोंने तो आज भी दीनोंको बहुत सताये ॥ तुम० ॥

दीनोंसे बंधुत्व तुम्हारा,
उन्हें दिया सत्प्रेम-सहारा।
द्रोह-मोह-तम दूर निवारा—
दिवस निशामें आज भी फिर सूर्य-चन्द्र चमकाये ॥
तुम विविध रूप धर आये ॥
भक्तोंकी करुण पुकार सुन तुम विविध रूप धर आये ॥



समानाधिकार

(एकाङ्की)

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

पहला दृश्य

स्थान—ब्रह्मलोक

समय—अनिश्चित। ब्रह्मलोकमें न रात होती है, न दिन।

(एक श्वेत-वर्ण भव्य भवनके लंबे-चौड़े बरामदेमें, सोनेकी चौकीपर, ब्रह्मा पलथी मारकर बैठे हैं। ब्रह्माके चार मुँह हैं, चार हाथ हैं, सिरोंपर मुकुट हैं और प्रत्येक मुँहसे सफेद और लंबी दाढ़ी लटकी हुई है। ब्रह्मा जीवोंके लिये शरीर-रचनामें निमग्न हैं। आस-पास पशु-पक्षी, कीट-पतंग, जलचर, थलचर और गगनचर आदि जीवोंके नन्हे-नन्हे शरीर बना-बनाकर रक्खे हुए हैं। कुछ शरीरोंको वे सामनेके हाथोंसे बनाते हैं, जो बहुत सुन्दर बनते हैं। कुछको पीछेके दोनों हाथोंसे बनाते हैं, जो भद्दे, कुरूप और अपूर्णाङ्ग बनते हैं। पास ही, हाथोंकी पहुँचके अंदर छोटी-छोटी कई चौकियाँ हैं, जिनपर भिन्न-भिन्न वर्गोंके नन्हे-नन्हे जीव रक्खे हैं। चौकियोंपर सामनेकी पट्टियोंपर देवनागरी अक्षरोंमें चौकीपर रक्खे हुए जीवोंके वर्गवार नाम लिखे हैं।

विरोचन और वारुणी नामके युवक और युवती बरामदेके बाहर, धरतीपर, हाथ जोड़े और ब्रह्माकी दृष्टि पानेके लिये लालायित खड़े हैं। ब्रह्मा अपने काममें लगे हैं।

शरीर-रचनाका काम समाप्त करके ब्रह्मा पहले मनुष्यका एक-एक शरीर उठाकर उसमें जीव डालते हैं। जीव डालकर वे उसे अपने मुँहके पास ले जाते हैं और उसके कानमें कहते हैं।)

ब्रह्मा—सबसे ज्यादा बुद्धि मैं तुम्हींको दे रहा हूँ।

(यही एक वाक्य वे प्रत्येकके कानमें कहते हैं और वे उसे एक तरफ रखते जाते हैं।)

विरोचन—(वारुणीसे धीरेसे) इस बुड्ढेकी शरारत देख रही हो न? मनुष्योंमें फूटका बीज यह यहींसे बोकर भेजता है।

वारुणी—इसीसे तो हर-एक पुरुष समझता है कि सबसे ज्यादा बुद्धि उसीको मिली है और उनकी आपसकी लड़ाईका अन्त ही नहीं आता।

विरोचन—समानाधिकारमें लड़ाईका भी हिस्सा तो लोगी न?

(दोनों एक दूसरेको देखकर आँखोंमें मुसकराते हैं।)

(ब्रह्माने हिरन, साँप, अजगर, मेढक, छिपकली, गिरगिट, खच्चर आदि जीवोंकी चौकियोंपरसे जीव उठा-उठाकर मनुष्यके शरीरमें डालना शुरू किया।)

विरोचन—(धीरेसे) यह बुड्ढा करोड़ों वर्षोंसे यही काम कर रहा है। अब थक गया है। सूझता भी कम है। मनुष्यके जीवोंकी चौकी ही भूल गया और जानवरोंकी चौकियोंसे जीव उठा-उठाकर मनुष्यके शरीरमें डाल रहा है। यह देखो, हरिनका जीव इसने मनुष्यके शरीरमें डाल दिया।

वारुणी—(मुसकराकर) यह टेनिस, क्रिकेट, फुटबाल और कबड्डीका अच्छा खिलाड़ी होगा।

विरोचन—(साँपका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह?

वारुणी—यह चोर होगा।

विरोचन—(अजगरका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह?

वारुणी—यह सेठ होगा।

विरोचन—(मेढकका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह?

वारुणी—यह राज्यका मन्त्री होगा।

विरोचन—(गिरगिटका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह?

वारुणी—यह राजनीतिक नेता होगा।

विरोचन—(खच्चरका जीव मनुष्यके शरीरमें डालते देखकर) यह?

वारुणी—यह नपुंसक होगा।

विरोचन—(स्वगत) जान-बूझकर ब्रह्मा यह भूल कर रहे हैं, पर यह भी कोई शरारत है? (छिपकलीका जीव एक स्त्रीके शरीरमें डालते हुए देखकर वारुणीसे) यह?

वारुणी—यह सास होगी।

विरोचन—साससे छिपकलीका क्या सम्बन्ध ?

वारुणी—'वाह, पुत्र और पतोहू जब एक कमरेमें अकेले बैठते हैं, तब सास कमरेके बाहर किवाड़की बगलमें कान लगाये छपटी रहती है, कहीं उसकी चुगली-निन्दा न कर रहे हों। यह छिपकलीके जीवका ही प्रभाव तो है।

विरोचन—क्या मेरी माँ भी ऐसा करती थी ?

वारुणी—क्या सभीके शरीरमें छिपकलीके जीव पड़ते होंगे ?

विरोचन—(ब्रह्माकी ओर देखकर, चौंकते हुए !) आह ! इस शरीरमें तो बाघका, इसमें भेड़ियेका और इसमें चूहेका जीव डाल रहा है। बुड्ढा यह कर क्या रहा है ? बिल्कुल ही बौड़म हो गया है क्या ?

वारुणी—इन जानवरों-जैसे तो तुम्हारे कई मित्र हैं।

(ब्रह्मा उस दिनके बनाये सब शरीरोंमें जीव डालकर और सबके कानोंमें उपर्युक्त वाक्य कहकर उनको कई पाँतोंमें रख देते हैं। फिर किसी-किसीको चुनकर उठाते हैं और पास रक्खी हुई दिव्य लेखनी उठाकर उससे उनके माथोंपर कुछ लिखकर उन्हें अपने पीछेकी दीवारमें बने हुए दराजमें रखते जाते हैं। माथोंपर उनके लिखे हुए अक्षर चमकते हैं, जिन्हें विरोचन और वारुणी पढ़ते हैं।)

विरोचन—(पढ़ता है) यह पढ़-लिखकर योग्य होगा, इसके वृद्ध माता-पिता गृहस्थीका सारा बोझ इसपर रखकर निश्चिन्त हो जायँगे, तब यह पचीस वर्षकी अवस्थामें मर जायगा, ताकि माता-पिता शेष जीवन रोते-रोते दुःखमें बितायें; क्योंकि वे पूर्वजन्मके बड़े पापी थे। (स्वगत) यह बुड्ढा बड़े क्रूर स्वभावका है।

वारुणी—(दूसरा माथा पढ़ती है) फुटबॉलके खेलमें इसकी एक टाँग टूट जायगी; क्योंकि पूर्वजन्ममें इसने एक मनुष्यकी टाँग तोड़ दी थी।

विरोचन—(पढ़ता है) पूर्वजन्ममें इसने माता-पिताकी सेवा नहीं की थी, इससे पढ़-लिखकर भी यह अर्जियाँ लिये दौड़ता फिरेगा और कहीं नौकरी नहीं पायेगा। अन्तमें बुरी मौत मरेगा।

वारुणी—(पढ़ती है) यह नपुंसक होगा। पूर्व-जन्मकी एक पुंश्चली इसकी स्त्री होगी, जो बहुत सुन्दरी भी होगी। इससे दोनों एक दूसरेको देख-देखकर पीड़ित होते रहेंगे।

वारुणी—(पढ़ती है) पूर्व-जन्ममें यह व्यभिचारिणी थी। इससे यह पचीस वर्षकी अवस्थामें विधवा हो जायगी। (स्वगत) भयंकर दण्ड है।

विरोचन—(पढ़ता है) बीस वर्षकी अवस्थासे यह जीवन-भर कोढ़ी होकर रहेगा। पिछले जन्ममें यह बड़ा रिश्वतखोर था।

वारुणी—(पढ़ती है) इसने पुण्य भी बहुत किये, पर सङ्ग अच्छा नहीं था और स्वयं चुगुलखोर भी था। इससे राज्यका मुख्य मन्त्री होनेपर भी पूर्वाभ्यासवश लुच्चों-लफंगोंकी मण्डली बनाकर रहेगा और उनके किये पापोंका मानसिक दण्ड भोगता रहेगा।

विरोचन—(वारुणीसे) देख ली न ब्रह्माकी व्यवस्था ? तुम्हारे भी पूर्व-जन्मका कोई पाप होगा, जिससे तुम मुझसे समानाधिकारके लिये झगड़ती रहती हो।

वारुणी—(तमककर) और वह तुम्हारा ही पाप हो तो ?

(ब्रह्मा अपने कामसे छुट्टी पाकर सिर उठाते हैं और विरोचन और वारुणीको देखते हैं।)

ब्रह्मा—तुम दोनों कौन हो और क्यों आये हो ?

विरोचन—हम दोनों पति-पत्नी हैं। पृथ्वीलोकसे आये हैं। मेरी यह पत्नी और इसीके समान और भी बहुत-सी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ पुरुषोंके समान अधिकार चाहती हैं, उसीका निपटारा आपसे कराने आये हैं।

ब्रह्मा—अधिकार बाँटना स्मृतिकारोंका काम है, मेरा नहीं, फिर भी (वारुणीसे) तुम क्या चाहती हो ?

वारुणी—मैं चाहती हूँ कि स्त्रियोंको पुरुषोंने मिट्टीकी दीवारोंके घेरेमें कैद कर दिया है, उससे उनको छुटकारा दिला दिया जाय। पुरुषोंने जो उनको परदेमें छिपा रक्खा है, वह भी हटा दिया जाय। स्त्रियाँ भी पुरुषोंकी तरह पढ़-लिखकर वकील बन सकें, जज और मैजिस्ट्रेट बन सकें, प्रोफेसर और डॉक्टर बन सकें, बैंककी मैनेजर और कर्मचारी बन सकें, राजसभाकी मेम्बर और मन्त्री बन सकें—

विरोचन—(बीचमें) चपरासी, मेहतरोंके दारोगा, फौजी सिपाही, बढ़ई और राजगीर बन सकें। चोर और डाकू बन सकें—

वारुणी—(झुँझलाकर) चोर और डाकूका काम पुरुष करेंगे, (ब्रह्मासे) हाँ, तो मैं यह भी चाहती हूँ कि स्त्री या पुरुष जब चाहे, एक-दूसरेसे वैवाहिक सम्बन्ध विच्छेद कर लें। यह कोई ईश्वरीय नियम नहीं है कि पुरुष स्त्रियोंको दासी बनाकर रक्खें।

विरोचन—यह तो तुम्हारा भ्रम है; दास तो पुरुष ही बने रहते हैं ।

ब्रह्मा—देखो, मेरा काम तो केवल सृष्टिकी रचना करना है । तुम्हारी सामाजिक व्यवस्था तुम्हारे स्मृतिकारोंने बाँधी है और मैं समझता हूँ, मेरी रचनाका मर्म समझकर ही उन्होंने कामका बँटवारा किया है । उसमें कहीं त्रुटि दिखायी पड़े, तो मनुष्य उसे ठीक कर ले, मैं उसमें कुछ दखल नहीं देता । मगर मेरी रचना ही ऐसी है कि उसमें समानाधिकार सम्भव नहीं ।

वारुणी—कैसे ?

ब्रह्मा—मैंने स्त्रियोंमें कोमल गुणोंकी मात्रा अधिक रख दी है, जिससे वे दयालु, मधुर-भाषिणी, कलाओंको पसंद करनेवाली और परिवारमें आनन्दकी वृद्धि करनेवाली होती हैं ।

विरोचन—और पुरुषोंमें ?

ब्रह्मा—पुरुषोंमें मैंने कठोर गुणोंकी मात्रा अधिक रख दी है । जिससे वे साहसी, शूरवीर, धैर्यवान्, अभिमानी, लड़ने-झगड़नेवाले, सर्दी-गरमीके कष्टोंको सहनेवाले, हठी और परिश्रमी होते हैं । दोनों—स्त्री और पुरुष, एक-दूसरेके पूरक होते हैं ।

वारुणी—किंतु आपकी यह इच्छा तो नहीं होगी कि पुरुष स्त्रियोंको घरके अंदर परदेमें कैद करके रक्खें ।

ब्रह्मा—कैदमें रखनेकी तो नहीं, पर स्त्रीके शरीरकी रचना मैंने इस प्रकारकी जरूर की है कि वे ज्यादातर धूल और धूपसे बचकर रहें और यह घरके अंदर ही सम्भव है । इससे मैंने उनके शरीरमें खासकर नाकमें पुरुषोंकी अपेक्षा बाल कम दिये ।

वारुणी—इसका क्या मतलब ?

ब्रह्मा—नाकके बाल धूलको फेफड़ोंमें जानेसे रोकते हैं । स्त्रियाँ घरके अंदर धूलसे दूर रहेंगी, तो उनके फेफड़े स्वस्थ रहेंगे और वे स्वस्थ और सुन्दर बनी रहेंगी और उनके शरीरमें कोमलता भी मैंने ज्यादा दी है । वे धूपमें काम करेंगी तो उनकी कोमलता नष्ट हो जायगी ।

विरोचन—ऐसा आपने क्यों किया ?

ब्रह्मा—क्योंकि उनको बच्चोंका पालन-पोषण भी करना होगा, जो उनके पास रहकर ही सम्भव हो सकता है । बच्चोंके पास रहकर वे अपने उत्तम गुणोंसे उनको उच्चकोटिका मनुष्य भी बना देंगी, जो समाजके दृढ़ स्तम्भ होंगे । मनुष्यका सच्चा स्वर्ग माताके चरणोंके नीचे ही है और कोमलता आदि गुणोंसे यह भी लाभ होगा कि पुरुष उनकी ओर आकर्षित होंगे और सृष्टि चलेगी ।

विरोचन—पर आपने दाढ़ी और मूँछ दोनों पुरुषको ही दे दिये, यह तो अन्याय ही है ।

वारुणी—(तमककर) तुम सदा यही कहा करते हो, दाढ़ी और मूँछमें कौन-सा ऐसा बोझ है, जो स्त्री नहीं उठा सकती ?

विरोचन—तो एक ले लो न ? समानाधिकार तो यहींसे शुरू होना चाहिये ।

वारुणी—तुम मेरे और सब अधिकार स्वीकार करो, तो चलो, दाढ़ी मैं ले लूँगी, मूँछ तुम अपने मुँहपर रक्खो । तुमको पशुओंकी तरह लड़ाई लड़नेके लिये मूँछपर ताव देनेकी ज्यादा जरूरत पड़ेगी ।

ब्रह्मा—(मुसकराते हुए स्वगत) स्त्रीमें अविवेककी मात्रा भी मैंने अधिक रख दी है, वह ठीक काम कर रही है ।

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमविवेकता ।
अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥

वारुणी—(श्लोक सुनकर) यह श्लोक पुरुषने बनाया है, स्त्री बनाती तो इससे अधिक अवगुण पुरुषोंमें गिना देती ।

ब्रह्मा—श्लोकमें मेरी रचना ही बोल रही है ।

विरोचन—(वारुणीसे) अच्छी बात है; तुम दाढ़ी ले लो तो जो-जो अधिकार तुम माँगती हो, मैं सब स्वीकार करता हूँ ।

ब्रह्मा—देखो, मेरी रचनाका रहस्य समझकर ही ऋषि-मुनियोंने स्त्री-पुरुषोंके कामोंका बँटवारा किया है । मेरी तो राय है कि तुम उसका उचित रीतिसे पालन करो । मैंने तुम दोनोंके बीचमें 'प्रेम' नामकी एक वस्तु और रख दी है, वह वासनासे भिन्न वस्तु है । वह त्याग और सहिष्णुतासे प्राप्त होगी । (स्त्रीसे) सम्बन्ध-विच्छेदकी बात तो तुम वासनासे प्रेरित होकर ही कह रही हो । प्रेमसे पूर्ण बनोगी तो सम्बन्ध-विच्छेदका ध्यान भी नहीं आयेगा ।

[पढ़ते हैं]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

(दोनोंसे) अच्छा, अब तुमलोग जाओ और विवेक-बुद्धिसे जो मार्ग तुमको सुखकर जान पड़े, उसीपर चलो ।

(ब्रह्मा फिर अपने काममें लग जाते हैं, विरोचन और वारुणी प्रणाम करके जाते हैं ।)

दूसरा दृश्य

समय—प्रातःकाल चायका वक्त ।

स्थान—एक बँगलेके सामनेका लॉन ।

(विरोचन और वारुणी बेंतकी कुर्सियोंपर आमने-सामने बैठे हैं । बीचमें एक छोटी-सी सुन्दर मेज रक्खी है । नौकर ट्रेमें चाय और खानेकी कुछ चीजें प्लेटोंमें रखकर लाता है और रखकर चला जाता है । वारुणी प्यालोंमें चाय डालती है और फिर दोनों खाने-पीनेमें लग जाते हैं ।)

विरोचन—(चाय पीते-पीते) ऐसा याद आ रहा है कि रातमें मैंने एक स्वप्न देखा है, जिसमें हम दोनों ब्रह्माके पास गये थे ।

वारुणी—(कौतूहलसे) मैंने भी ऐसा ही स्वप्न देखा है । अजीब बात है ।

(दोनों कुछ देर चुप रहते हैं ।)

वारुणी—मैं सोच रही हूँ कि कुछ दिनोंके लिये घर छोड़ दूँ और गाँव-गाँव घूमकर स्त्री-जातिको पुरुषोंकी गुलामीसे मुक्त करूँ ।

विरोचन—(चाय पीते-पीते) तुमको क्या कष्ट है ?

वारुणी—कष्ट यह है कि पुरुषोंने स्त्रियोंके सब अधिकार छीनकर उन्हें घरकी दासी बना रक्खा है, हम समानाधिकार चाहती हैं ।

विरोचन—आजकल कुछ पढ़ी-लिखी स्त्रियोंका दिमाग फिर गया है । उनमें इतना जोश बढ़ गया है कि होशके लिये कहीं जगह ही नहीं रह गयी है । (हँसता है ।)

वारुणी—तुम तो हँसोगे ही । तुम समझते हो कि पुरुषोंने स्त्रियोंको ऐसा जकड़ रक्खा है कि वे छुटकारा पा ही नहीं सकतीं । इसीसे हँसते हो । पर जरा नारी-जागरण होने तो दो; फिर देखना हँसते हो या रोते ।

विरोचन—दासी तो तुम अपने मुँहसे बन रही हो । समाजमें तुमको पुरुषोंसे ज्यादा अधिकार बिना किसी कानूनके प्राप्त हैं । बड़े-बड़े धुरन्धर नेता तुम्हारे सामने आकर नतमस्तक हो जाते हैं ।

वारुणी—होना ही चाहिये । अब जरा ज्यादा अधिकारकी बातका खुलासा तो करो ।

विरोचन—जैसे, घर-गृहस्थीके हल्के काम, जिनमें परिश्रम कम करना पड़ता है, तुमको मिले हैं । कठोर परिश्रमवाले काम पुरुष करते हैं ।

वारुणी—मैं तो कामका बराबर-बराबर बँटवारा चाहती हूँ, पुरुषोंका एहसान क्यों लूँ ? बाँट लो न ?

विरोचन—मूर्खताका बँटवारा कैसे करें ? पेड़पर चढ़कर लकड़ी तोड़ना, धूपमें हल चलाना, सड़क कूटना, कुँआ खोदना, फावड़ा चलाना, मिट्टी ढोना, ठेला खींचना, पल्लेदारी करना, लकड़ी चीरना, लड़ाई लड़ना—ये काम स्त्रियाँ कैसे कर सकती हैं ?

वारुणी—लड़ाई तो मैं खूब लड़ सकती हूँ ।

विरोचन—क्यों नहीं ? किंतु जीभसे । अभ्यास तो रोज ही करती रहती हो ।

वारुणी—(तमककर) स्त्रियोंको पुरुष अवगुणोंकी खान समझते हैं और अपनेको गुणोंका समुद्र । पुरुषोंका यही अहंकार तो मैं तोड़ना चाहती हूँ । खैर, तुम कामका बँटवारा करके देख लो न ?

विरोचन—पहलेसे ही देखता हूँ फिरसे क्या देखूँ ? अगर पुरुषलोग घरके भीतर, छायामें, सुखसे बैठकर बर्तन माँजने, चौका देने, रसोई बनाने और चक्की चलानेका काम ले लेंगे और बाहरके काम तुमको सौंप देंगे, तो क्या तब भी तुम ऊँची एड़ीके बूट पहनकर ऊँटकी तरह मचकती फिरोगी ? और चश्मा लगाकर साइकिलकी-सी आँखें मटकाओगी ?

वारुणी—(उग्र स्वरमें) तुम मेरी दिल्लगी उड़ाते हो ?

विरोचन—(शान्त भावसे) दिल्लगी नहीं उड़ाता, सच बोलता हूँ । खैर, जो जीमें आवे सो करो, पर पुरुषोंने जो एहसान तुमपर किये हैं, उन्हें तो मत भूल जाना ।

वारुणी—(आँखें फाड़कर) एहसान ? एहसान कौन-से ?

विरोचन—एक-दो हैं ? बीसों तो हैं ?

वारुणी—दो-चार तो गिनाओ, सुन तो लूँ ।

विरोचन—सुनो, हिंदीके सैकड़ों कवियोंने तो एक-एक जीवन ही तुमको दे डाला । बिहारी, देव, मतिराम, बोधा, पद्माकर, रत्नाकर जीवनभर तुम्हारे शरीरके गीत गाते रहे । मौतने ही उनको तुमसे नोचकर अलग कि[illegible] आजकल भी हजारों जीवित कवि रात और दिन [illegible] रूपकी ज्वालामें जल रहे हैं ।

वारुणी—(तमककर) हिंदी-कवियोंका नाम मेरे सामने मत लो; मैं उनसे घृणा करती हूँ ।

विरोचन—घृणा क्यों करती हो ? वे तो जबसे होशमें आये और मृत्युको देखकर बेहोश नहीं हो गये, स्त्रियोंके शरीरका ही गुणगान करते रहे । उन्होंने स्त्रियोंके अङ्गोंके लिये सुन्दर-सुन्दर उपमाएँ खोजीं और उन्हें अनेकों छन्दोंमें लिख-लिखकर दूरतक पहुँचाया और पुरुषोंको ही स्त्रियोंका दास बनाया । उनसे घृणा क्यों करती हो ?

वारुणी—उनकी उपमाएँ मैं पढ़ चुकी हूँ । उन्होंने स्त्रियोंके शरीरको जंगली पशु-पक्षियों और फूल-पत्तोंकी प्रदर्शनी बना दिया है । साँप-ऐसी वेणी, हिरन-जैसी आँखें, घोंघे-जैसे कान, नीमकी पत्ती-जैसी भौंहें, अनारके दाने-जैसे दाँत, कुँदरू-जैसे ओंठ, तोतेकी-सी नाक, कबूतर-जैसी गर्दन, सिंहकी-सी कमर, हाथीकी सूँड़-जैसी टाँगें, चम्पा-जैसा रंग और कहाँतक गिनायें हाथीकी चाल-जैसी चाल । जब स्त्रीके शरीरसे जानवरोंहीके शरीर श्रेष्ठ हैं, फूल-पत्ते ही सुन्दर हैं, तब स्त्रीके शरीरका क्या महत्त्व रह गया ? कवियोंने स्त्रियोंको मूर्ख बनाया है । जो स्त्री इन उपमाओंपर अभिमान करे, वह मूर्ख है ।

विरोचन—(हँसकर) उपमाएँ तो बुरी नहीं हैं; पर उनमें समयकी गतिके अनुसार कुछ परिवर्तनकी जरूरत है । हाथीके साथ अब ऊँटको भी शामिल कर लेना चाहिये, और ऊँची एड़ीके बूट पहननेवालीको अब गजगामिनी न कहकर उष्ट्रगामिनी कहना ज्यादा यथार्थ होगा—चश्मा लगानेवालीको हरिणाक्षी न कहकर साइकल-नेत्रा और उनके दाँतोंको कुन्द-कली न कहकर बल्वदशना कहना चाहिये ।

वारुणी—(रोषके स्वरमें) तुम स्त्रियोंका मजाक उड़ाते हो ?

विरोचन—मजाक तो नहीं उड़ाता, कवियोंकी लापरवाही गिनाता हूँ । कुछ भी हो, वे करते तो हैं तुम्हारा यशोगान ही ।

वारुणी—यह यशोगान है ?

वारुणी—पर स्त्रियोंके रूपपर कवि अपनी बुद्धि खो बैठें तो इसमें स्त्रियोंका क्या अपराध है ?

विरोचन—अपराधकी बात कौन कहता है ? मैं तो पुरुषोंके एहसानकी बात कहता हूँ ।

वारुणी—खैर, और कौन-से एहसान हैं, बताओ तो सही ।

विरोचन—नामहीको ले लो । पुरुषोंने स्त्रियोंके नाम कितने सुन्दर रक्खे हैं । मालती, वासन्ती, माधवी, सरला, सुभाषिणी, मदालसा, मृदुला, ललिता, भगवती, तारा, कमला, किशोरी । वाह ! सभी नाम उच्चारणमें सुगम, सुननेमें मधुर और समझनेमें सुखद हैं ।

वारुणी—(भौं मटकाकर) और पुरुषोंके ?

विरोचन—इक्ष्वाकु, खट्वाङ्ग, मार्कण्डेय, विष्णु, धृतराष्ट्र, धृष्टद्युम्न, प्रद्युम्न, भीष्म, मुग्धानल, क्षोणीन्द्र, फणीन्द्र, कोई नाम ऐसा नहीं, जिसमें दो-चार जगह मुँह न टेढ़ा करना पड़ता हो । सभी उच्चारणमें विषम तो हैं ही, सुननेमें भी कर्णकटु और समझनेमें भी भयानक हैं । बताओ, पुरुषोंने तुमको कोष और व्याकरणपर अधिक अधिकार दे रक्खा है या नहीं ?

वारुणी—(मुसकराकर) अच्छा, यह एहसान मैं मानती हूँ । और क्या है ?

विरोचन—और सुनो, तुममें कोमलता तो है ही; तुम्हारी वाणीमें ऐसी मिठास है । तुम्हारे हृदयमें प्रेम है । दिनभरकी मेहनतसे चूर थका-माँदा पुरुष जब घर आता है और स्त्री एक बार प्रेमसे देखकर मुसकराकर एक शब्द बोल देती है कि सारी थकावट दूर हो जाती है और एक दमसे स्फूर्ति आ जाती है । तुममें दया है, सहिष्णुता है, भोलापन है, लज्जा है, वशीकरण है और मोहिनी कला है ।

वारुणी—और पुरुषोंमें ?

विरोचन—पुरुषोंमें युद्ध, विवाद, क्रूरता, अभिमान ।

वारुणी—(बात काटकर) चोरी, डकैती, क्रूरता, उजड्डता, खुशामद । कहते जाओ न ?

विरोचन—और भी जो बुरे-से-बुरे विशेषण तुम्हें याद हों, कह डालो । तुम्हारे गुणोंके कारण पुरुषने तो तुमको गृहस्वामिनी बना रक्खा है । समानाधिकारकी चर्चा तो तुम नाहक ही करती हो ।

वारुणी—अच्छा, और क्या-क्या एहसान हैं ? सुन तो लूँ ।

विरोचन—सुनो, तुम्हारे जिस रूपने पुरुषसे पुरुषका गला कटाया और हजारों लड़ाइयाँ लड़वायीं, उसी रूपको सँवारने-सजानेके लिये वह अनन्त सागर-तलमें डूबकर, प्राणोंका मोह छोड़कर मोती निकालता है, जिससे तुम्हारे कण्ठ और वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ती है । पृथ्वीका पेट चीरकर सोना, चाँदी, हीरा और जवाहर निकालता है, जिनसे लाखों पुरुष सोनार गहने तैयार करते हैं और अपनी आँखें फोड़ते हैं । और

गिनायें ? पुरुष करोड़ों जीवोंकी हत्या करके रेशमी साड़ी तैयार करता है, जिसे पहनकर तुम तितलीकी तरह उड़ती फिरती हो। क्या ये एहसान नहीं हैं ?

वारुणी—यह पुरुषकी मूर्खता है। स्त्रियाँ स्वयं तो अपने रूपपर आसक्त नहीं।

विरोचन—स्वयं आसक्त कैसे होतीं ? जो स्त्री जितनी ही अधिक रूपवती होती है, वह उतनी ही अधिक मूर्खा होती है; क्योंकि अपनेको कुरूपा समझती है, तभी तो रूपवती कहलानेके लिये वह तरह-तरहके गहने और चटक-मटकवाली साड़ियाँ पहना करती है।

वारुणी—मैंने कब कहा कि मुझे गहने बनवा दो ?

विरोचन—क्यों झूठ बोलती हो ? मैं जब कभी भोजन करने बैठता हूँ या करके जरा-सा लेट जाता हूँ, तभी तुम प्रतिदिन किसी-न-किसी गहनेके लिये अनुनय, विनय, क्रोध, धमकी, रूठने और आँसू गिरानेका नाटक दिखाने लगती हो। क्या नहीं दिखाती ?

वारुणी—खैर; इसे मैं थोड़ी देरके लिये मान लेती हूँ। और क्या एहसान है ?

विरोचन—एक-दो हैं ? सैकड़ों तो हैं।

वारुणी—अच्छा, कुछ और बताओ।

विरोचन—कामका बँटवारा ही ले लो। तुमको घर-गृहस्थीके साधारण काम दिये गये, जिनमें परिश्रम कम पड़ता है। घरमें झाड़ू दे लेना, रसोई बना लेना कौनसे मुश्किल काम हैं ? चक्की चलाना तो घरके अंदरका व्यायाम है, जिससे स्त्रियोंकी तंदुरुस्ती ठीक रहती है। और रसोई तो तुमको ही बनानी चाहिये, क्योंकि तुम्हारा हाथ लगते ही खानेकी चीजोंमें अमृत-जैसी मिठास आ जाती है।

वारुणी—सचमुच ?

विरोचन—(अपनी ही धुनमें) परिश्रमके बड़े-बड़े काम पुरुषोंने अपने जिम्मे ले लिये हैं! क्या यह एहसान नहीं है ?

वारुणी—और ?

विरोचन—तुम समानाधिकार चाहती हो, पर विधाताका विधान तो ऐसा नहीं है ?

वारुणी—विधाताका विधान तुमको कैसे मालूम ?

विरोचन—मालूम क्यों नहीं ? विधाताने तुम्हारा पक्षपात किया है और पुरुषोंके साथ अन्याय किया है ?

वारुणी—(आश्चर्यसे) वह क्या ?

विरोचन—सुनो। उसने स्त्रियोंको पुरुषोंसे अधिक सुन्दर बनाया है। सुकोमल और सुडौल शरीर तुमको दिया।

वारुणी—इसमें स्त्रियोंका क्या अपराध ?

विरोचन—अपराध तो क्या है ? पर तुम्हारे इसी रूप-रंगको देखकर ही तो पुरुषोंने तुम्हारे साथ रियायत की है।

वारुणी—रूप-रंग जिसने दिये, वही जिम्मेदार है।

विरोचन—जिम्मेदार ब्रह्मा हैं। यदि उन्होंने पुरुषोंकी तरह तुम्हारे भी दाढ़ी-मूँछ दी होती, तो क्या पुरुषोंको तुम इस तरह नाक पकड़कर नचाया करती ? दाढ़ी-मूँछसे युक्त तुम्हारे मुँहसे तो लोग जटायुक्त नारियलके हुक्केको ज्यादा पसंद करते न ?

वारुणी—(तमककर) तुम मेरा अपमान करते हो ? याद पड़ता है, स्वप्नमें भी तुमने यही शिकायत ब्रह्मासे की थी।

विरोचन—हाँ, मुझे भी याद पड़ता है।

वारुणी—जरा भरके बालोंपर तुमको इतना मलाल है, तो लो, कलसे मैं ब्रह्माकी भूल दुरुस्त कर दूँगी। मूँछ तुम रक्खो, तुमको पशुओंकी तरह आपसमें लड़ना पड़ता है, ताव देनेके लिये तुमको मूँछ चाहिये। मैं दाढ़ी लगा लूँगी। तब तो तुम स्त्रियोंका समानाधिकार स्वीकार कर लोगे न ? कलसे देखो।

(वारुणी तेजीसे उठती है और घरके अंदर जाती है। विरोचन थोड़ा ठहरकर यह चौपाई पढ़ता हुआ अंदर जाता है।)

विरोचन—

नारि सुभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक अधर्म अदाया॥

[जाता है]

तीसरा दृश्य

समय—प्रातःकाल।

स्थान—विरोचनके बँगलेमें आँगनका एक बरामदा।

(बरामदेमें एक छोटी मेजके पास कुरसीपर विरोचन नहा-धोकर साफ कपड़े पहनकर बैठा है। नौकर चाय और खानेकी कुछ चीजें लाकर मेजपर रखकर चला जाता है। वारुणी साड़ी पहने हुए और मुँहपर दाढ़ी लगाये हुए कमरेमेंसे आती है और विरोचनके सामने एक बार खड़ी होकर फिर दूसरी कुरसीपर बैठ जाती है।)

विरोचन—(देखकर और खिलखिलाकर हँसकर) यह क्या भेस बनाया है ?

वारुणी—कल मैंने कहा था न कि मैं दाढ़ी लगा लूँगी। सो मैंने दाढ़ी लगा ली। अब तो तुम ब्रह्माका पक्षपात नहीं कहोगे ?

(विरोचन व्यङ्गपूर्ण दृष्टिसे वारुणीको देखता और खूब हँसता है।)

विरोचन—(स्वगत) यही स्त्री-बुद्धि है, स्वप्नको सत्य करके दिखला रही है। (पढ़ता है) 'का नहिं अबला करि सकै—'

वारुणी—(ताली बजाती है, नौकर आता है, नौकरसे) देखो, यहाँ बरामदेमें बीस-पचीस कुरसियाँ लगा दो और चार-पाँच छोटी मेजें रख दो। (नौकर वारुणीकी दाढ़ी देखकर मुसकराता हुआ जाता है। विरोचनसे) मैंने अपनी कुछ साथिनोंको अभी चायपर बुलाया है। मैं उनके सामने तुमसे प्रतिज्ञा कराऊँगी।

(विरोचन स्त्रीकी चञ्चल बुद्धिपर मन-ही-मन मुसकराता हुआ चायके प्यालेमें चाय उँड़ेलता है और पीता है। वारुणी कमरेके अंदर जाती है। देवियोंका आना शुरू होता है। एक-एक करके पंद्रह-बीस देवियाँ आती हैं और विरोचनको अभिवादन करके कुरसियोंपर बैठती जाती हैं। नौकर जलपान और चाय लाकर मेजोंपर रख जाता है। वारुणी कमरेसे बाहर आती है। उसकी दाढ़ी देखकर सब देवियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं। कुछ चकित होकर देखने लगती हैं।)

एक देवी—बहन, तुमने यह क्या ढोंग बनाया है ?

वारुणी—पुरुषलोग ताना मारते हैं कि ब्रह्माने स्त्रियोंका पक्ष करके दाढ़ी और मूँछ दोनों उन्हींको दे दिया है और उनके साथ अन्याय किया है। ब्रह्माकी भूल ठीक करनेके लिये मैंने दाढ़ी लगा ली है। आप सब भी लगा लें। अब पुरुष हमको समानाधिकार दे दें।

दूसरी देवी—तुमको धन्यवाद है, बहन ! तुमने पुरुषोंको मुँह-तोड़ जवाब दिया है। हमलोग दाढ़ी जरूर लगायँगी।

तीसरी देवी—लड़ाई तो कदम-कदमपर लड़नी होगी।

(वारुणी ताली बजाती है। नौकर आता है। वह प्यालोंमें चाय भरने लगता है और वारुणी प्याले उठाकर हर एक देवीके सामने रखती जाती है। जलपानकी दूसरी चीजें मेजपर पहलेसे ही तश्तरियोंमें रखकर कपड़ेसे ढँकी थी। कपड़ा हटाकर वारुणी और नौकर तश्तरियोंको सबके सामने रखते हैं।)

वारुणी—बहनो ! चाय पीनेसे पहले आओ हमलोग अपना सिद्धान्त-गीत गा लें।

(सब उठकर खड़ी हो जाती हैं। वारुणी एक-एक कड़ी गाती है, उसीको सब दुहराती हैं।)

सिद्धान्त-गीत

दे दो हे प्रियतम प्यारे, हमको अधिकार हमारे ॥
चक्की चूल्हा तुम ले बठो, सेंको मन भर रोटी।
हम कुलवंतिन आफिस देखें, गायें राग झिंझोटी ॥
दे दो अधिकार हमारे।

(गीत गाकर वारुणी बैठ जाती है। साथ ही सब देवियाँ भी बैठ जाती हैं और सब जलपान करने और चाय पीनेमें लग जाती हैं।)

एक देवी—(विरोचनसे) आप भी आइये।

विरोचन—मैं क्षमा चाहता हूँ; चाय पी चुका हूँ।

दूसरी देवी—हमारे आन्दोलनके बारेमें आपकी क्या राय है ?

विरोचन—समानाधिकार ही क्यों ? मैं तो सम्पूर्ण अधिकार देनेको तैयार हूँ। पर यह दाढ़ी मुझसे नहीं देखी जायगी। कल मैं तीर्थ-यात्राको चला जाऊँगा।

(सब देवियाँ वारुणीका मुँह देखती हैं)

वारुणी—(उत्तेजित स्वरमें) धमकियोंसे तो आन्दोलन नहीं दब सकता। पर स्त्रियोंको छोड़कर पुरुष जा कहाँ सकते हैं ? पुरुषकी नाथ तो ब्रह्माने स्त्रियोंके हाथमें पकड़ा रक्खी है। (थोड़ी देर चुप रहनेके बाद।) बहनो ! कलसे घर-घर जाकर बहनोंको समझाओ और संगठन करो। फिर सब एक साथ मिलकर कानूनके अनुसार पूरा समानाधिकार प्रत्यक्ष करके दम लो।

सब—(एक स्वरमें) जरूर-जरूर हम कल सवेरेसे ही आन्दोलन शुरू कर देंगी।

वारुणी—(उठकर) अच्छा तो सबको नमस्ते।

(सब उठ खड़ी होती हैं और नमस्ते कहकर विदा लेती हैं। वारुणी घरके अंदर चली जाती है। नौकर चायके प्याले और तश्तरियाँ उठा ले जाता है। विरोचन थोड़ी देर किसी सोच-विचारमें बैठा रहकर उठकर कमरेमें चला जाता है।)

चौथा दृश्य

समय—संध्याकाल।

स्थान—देहाती मेलेका एक बाजार।

(रंग-बिरंगी धोतियाँ, सलूके, तरह-तरहके गहने पहने और

माथेपर छोटी-बड़ी टिकुलियाँ दिये ग्रामीण स्त्रियाँ और कुछ साफ-सुथरी पोशाकोंमें अच्छे परिवारोंकी स्त्रियाँ बाजारमें घूम-घूमकर सौदा खरीद रही हैं। कपड़े, काँसे और राँगेके गहने, कंठियाँ, माला, धागे, सूतके फुलड़े, पिपिहरियाँ, खिलौने, साग-तरकारियाँ और देहाती फलोंके दूकानदार जगह-जगह बैठे हैं। दूकानदार और खरीदार ज्यादातर स्त्रियाँ ही हैं।)

एक सुसभ्य स्त्री—(फल बेचनेवालीसे) आजकल गोपीनाथ नहीं दिखायी पड़ता। पहले तो वह फल और तरकारियाँ देने प्रायः रोज आया करता था।

फल बेचनेवाली—क्या कहूँ बहन! हमारे गाँवमें अब यह चाल चल गयी है कि पुरुष आटा पीसें, रोटी बनाया करें, बर्तन माँजें और लड़के खिलायें। यह देखकर उन्होंने कहा, जब घरमें रहते हुए भी रोटी बनानी पड़ेगी तो परदेश क्यों न चला जाऊँ? वहाँ तो पिसा-पिसाया आटा मिलेगा। परदेशमें तो अपने हाथसे रोटी बनानी ही पड़ती है। यह कहकर वे परदेश चले गये। अब घर-गृहस्थीका कुल बोझ मुझपर आ पड़ा है। थक जाती हूँ, सँभलता नहीं, बहन! क्या करूँ?

सुसभ्य स्त्री—यह हवा तो आसपासमें भी फैल रही है। गाँव तो मर्दोंसे सूने हुए जा रहे हैं। क्या कहा जाय?

(दाढ़ीवाली देवियोंका प्रवेश। सब एक स्वरमें, 'हमको अधिकार हमारे, दे दो हे प्रियतम! प्यारे।' वाला सिद्धान्त-गीत गाती हुई बाजारमें टहल रही हैं। खरीदार और दूकानदार सबका ध्यान उनकी ओर खिंच जाता है। कुछ लोग हँस रहे हैं; कुछ आश्चर्यसे देख रहे हैं।)

वारुणी—(स्त्री-दूकानदारों और खरीदारोंके मध्यमें खड़ी होकर) बहनो! पुरुषोंने हमें गुलाम बना रक्खा है। सबेरे जब मीठी-मीठी नींद आ रही होती है, तब सबसे पहले उठो, उनके लिये बिछौनेपर पड़े-पड़े पीनेकी चाय तैयार करो, फिर जलपानकी तैयारी करो, फिर दस बजेके पहले उन्हें खाना बनाकर खिला दो, तब वे आफिस जायँगे। मानो स्त्री उनकी खरीदी हुई दासी है।

एक स्त्री दूकानदार—यह कहाँका हाल बता रही हैं? हमारे घरोंमें तो चाय बुखारमें पी जाती है।

दूसरी स्त्री दूकानदार—इसके मर्दको रोज बुखार आता होगा।

तीसरी स्त्री दूकानदार—आफिस क्या है? कोई जुआ खेलनेकी जगह होगी।

चौथी स्त्री दूकानदार—मेरे घरमें तो कोई आफिस जानेवाला है ही नहीं।

वारुणी—सुनो, सुनो, तुम्हारे ही लाभकी बात मैं कह रही हूँ। तुम मर्दोंकी गुलामी करना छोड़ दो। कह दो वे चक्की चलायें, चूल्हा फूँकें, बच्चे खेलायें, पानी भरें, झाड़ू दें, बरतन माँजें।

भीड़की एक स्त्री—फिर हमलोग क्या करें?

वारुणी—मर्दोंपर हुकूमत करो, पढ़ी-लिखी हो तो आफिस जाओ। जो मर्द करते हैं, सो तुम करो, घूमो, फिरो, नाचो-गाओ, दावतें खाओ, मर्द और स्त्री दोनोंके अधिकार बराबर हैं, तुम दबकर क्यों रहो? अपने अधिकारोंके लिये उठ खड़ी हो। मर्द पसंद न हो तो उसे तिलाक देकर दूसरा चुन लो। तुम पशु नहीं हो कि एक खूँटेसे बाँध दी जाओ तो जन्मभर उसीमें बँधी रहकर दुःख भोगती रहो। संसारके सारे सुख जो पुरुष भोगते हैं, स्त्रियोंको भी उन्हें भोगनेका पूरा अधिकार है। चेतो बहनो! चेतो, अपना अधिकार पहचानो।

मेलेकी दूसरी स्त्री—(पास खड़ी स्त्रीसे) जान पड़ता है इसको इसके मर्दने मार-पीटकर घरसे निकाल दिया है। तभी यह झुँझलायी हुई है। पर इसने दाढ़ी क्यों लगा रक्खी है? मुँहपर कोई कलङ्क लगा होगा, इसलिये उसे छिपाये फिरती है।

मेलेका एक पुरुष—गाँव तो बदसूरत स्त्रियोंसे और भी बदसूरत बन गये हैं। उन्हें उनके पतियोंने छोड़ दिया और सुन्दरी स्त्रियोंने कुरूप पतियोंको छोड़ दिया। दोनों अब स्वतन्त्र होकर मिलते-जुलते और मनमानी करते हैं। सड़कोंपर भूतिनें और चुड़ैलें ही मर्दोंकी खोजमें इधर-उधर भटक रही हैं।

मेलेका दूसरा पुरुष—गाँव तो बाहरसे गंदे थे ही, भीतरसे भी हो रहे हैं। गर्भपात कितने हो रहे हैं, इसका तो कुछ ठिकाना ही नहीं।

पहला पुरुष—और बच्चोंका जन्म भी तो कम होने लगा है।

(वारुणी और उसकी साथिनें आगे जाती हैं। दर्शक उन्हींकी चर्चामें लगे हैं। एक गौर-वर्ण सुन्दर युवकका प्रवेश। उसके पीछे एक वृद्ध और एक युवक और उनके पीछे एक साँवले रंगकी युव[illegible] प्रवेश। वृद्ध आगेवाले युवकको हाथ पकड़कर खड़ा कर[illegible]

वृद्ध—मान जाइये, आप मेरे दामाद हैं;

समान हूँ, वृद्ध हूँ, मुझे अब थोड़े ही दिन जीना है, मुझपर दया कीजिये, मेरी कन्याके अपराधको क्षमा कीजिये और घर लौट चलिये ।

युवक—यह सही है, आप मेरे पिता-तुल्य हैं, पर मैं पुरुष हूँ, आत्माभिमान रखता हूँ; सो भी उस स्त्रीका किया हुआ अपमान, जिसे मैं प्राणकी तरह रखता था । मैंने कभी उसे एक भी कटुवचन नहीं कहा । अब वह समानाधिकार-आन्दोलनमें भाग लेने लगी है । कितने घर इसने चौपट कर दिये, घर-घरमें स्त्री-पुरुषके बीचमें आग लगा दी, दाढ़ी लगाती है, कहती है, चूल्हा फूँकनेसे इसकी दाढ़ी जल जायगी, इसलिये मैं रोटियाँ सेकूँ । दिनभर समानाधिकारके लिये विवाद किया करती है । दिनभरका थका-माँदा जिस घरमें मैं शान्तिके लिये बड़े उत्साहसे घुसता था, अब उसमें पैर रखते मुझे डर लगता है ।

दूसरा युवक—बहनोई साहब ! मेरी बहन अपनी भूल समझ गयी है, अब आप कोई शिकायत न पायेंगे ।

युवक—(अपनी ही धुनमें) अंग्रेजोंने अपनी भाषाद्वारा अधिकारवाला यह रोग हमारे देशमें और हमारे घरोंमें फैलाया है । अंग्रेजी पढ़ी-लिखी लड़कियाँ अधिकारके लिये दौड़ पड़ी हैं और कर्तव्य भूल गयी हैं । कर्तव्यकी तो सीमा है, अधिकारकी सीमा ही नहीं । कहाँतक दिया जायगा ? मैं घरमें नहीं रहूँगा, स्त्रीको छोड़ रहा हूँ । वह घरमें पूरी अधिकारिणी बनकर रहे । मैं उसे दुःख देना नहीं चाहता ।

(मेलेके कुछ स्त्री-पुरुष घेरकर खड़े हो जाते हैं ।)

वृद्ध—(युवतीसे) मुझे कुछ दिन और जीने देना चाहती है, तो क्षमा माँग । यह सच है कि कर्तव्यकी सीमा है, अधिकारकी सीमा नहीं । कर्तव्य-पालन करनेवाला समस्त अधिकारोंको आप-से-आप प्राप्त कर लेता है । क्षमा माँग और मनाकर ले जा ।

(युवती युवकके सामने हाथ जोड़कर खड़ी होती है ।)

युवती—आप मेरी भूलोंको क्षमा कीजिये और घर चलिये । मुझे आपकी छायामें सभी अधिकार प्राप्त हैं ।

(युवक चुपचाप खड़े-खड़े कुछ सोचता है ।)

एक वृद्ध दर्शक—यही हाल गाँव-गाँवमें हो रहा है । किसी घरमें सुख और शान्ति नहीं रह गयी । एक पहिया पूरबको चल रहा है, दूसरा पच्छिमको, तो गृहस्थीकी गाड़ी कैसे सरके ?

एक वृद्ध—(युवकसे) जाओ, बेटा ! घर लौट जाओ । तुमने इसका हाथ पकड़ा है, तुम मर्द हो, इसे छोड़ नहीं सकते ।

एक दर्शक—

तुलसी बाँह सपूतकी, जो धोखेहुँ छुइ जाय ।
आपु निबाहैं जनम भरि, लरिकनसे कहि जायँ ॥

वृद्ध (श्वशुर)—(युवककी ओर इशारा करके दर्शकोंसे) ये मेरे दामाद हैं । सब तरहसे योग्य हैं, शिक्षित हैं, सदाचारी हैं, मेरी कन्या इनके साथ बहुत सुखी थी । कई दिन हुए मेरी कन्याने पत्र भेजा कि ये घर छोड़कर कहीं चले गये । पत्र पढ़ते ही मैं और (दूसरे युवककी ओर इशारा करके) कन्याका यह भाई, दोनों दौड़ पड़े । नाते-रिश्तेमें सर्वत्र खोजा, नहीं मिले, तब सोचा कि शायद मेलेमें मिल जायँ । भगवान्‌की कृपा और कन्याके भाग्यसे ये मिल गये । अब आपलोग समझाकर इनको घर भेजिये । चार रोजसे मैंने और मेरे लड़केने कुछ खाया-पिया नहीं । बसा हुआ घर उजड़ रहा है ।

(वृद्धके आँसू बहते हैं और वह दुपट्टेसे पोंछता है ।)

एक दूसरा वृद्ध—जाओ बेटा ! घर जाओ । अपने वृद्ध ससुरका सम्मान करो; तुम स्वयं अपने कर्तव्यका पालन करो । अधिकार पहले और कर्तव्य पीछे, यह गृहस्थीमें नहीं चल सकता ।

एक पण्डितजी—गृहस्थी तो छोटा-सा एक राष्ट्र है, जिसमें पिता राष्ट्रपति, माता राष्ट्र-लक्ष्मी, पुत्र मन्त्री और स्त्रियाँ, बच्चे, नौकर, हलवाहे, गाय-बैल, तोता-मैना, कुत्ते-बिल्ली—सब प्रजा हैं । राष्ट्रमें सब अपना-अपना धर्म सच्ची निष्ठासे पालन करेंगे, तभी सुख मिलेगा । कर्तव्य ही अधिकार है । जाओ भाई, घर जाओ । पत्नी सुशीला है, क्षमा माँगती है, स्वीकार कर लो ।

युवती—(युवकका हाथ पकड़कर) अब घर चलिये । घरमें माताजी भी उपवास कर रही हैं । टोला-महल्ला सब दुखी हैं । सब मुझे ही कोसते हैं । मेरा तो जीना भारी हो रहा है । (आँसू गिराती है ।)

(युवक वृद्धकी ओर देखकर आगे-आगे चलनेका संकेत करता है । वे सब जाते हैं ।)

दर्शक—(आपसमें) पति-पत्नी दोनों समझदार हैं । इसी आन्दोलनने यह विद्रोह पैदा कर दिया है । यह आग ऐसी

भड़क रही है कि पता नहीं, कहाँ जाकर शान्त होगी ।

(सब जाते हैं । बाजार उठ जाता है ।)

पाँचवाँ दृश्य

समय—संध्या ।

स्थान—एक लंबा-चौड़ा कमरा ।

(कमरेमें दरी बिछी है । दरीपर एक तरफ कालीन बिछे हैं। कालीनोंपर बेल-बूटेदार चादरें और कई छोटे-बड़े मसनद पड़े हैं । सिरेपर मसनदोंके सहारे सुन्दर रूप-रंग, वेष-भूषावाले पाँच कवि एक पंक्तिमें बैठे हैं । उनके सामने साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए बहुत-से श्रोता बैठे हैं । कवियोंकी दाहिनी ओर भड़कीली पोशाकमें वह रईस बैठे हैं, जिन्होंने यह समारोह आयोजित किया है । दाढ़ी लगाये हुए वारुणीका प्रवेश ।)

रईस—(उठकर) आइये, श्रीमती वारुणी देवीजी ! आपकी ही प्रतीक्षा की जा रही थी ।

वारुणी—(खड़े-खड़े) आपका निमन्त्रण-पत्र पाकर मुझे आश्चर्य हुआ; क्योंकि यहाँका तो एक नियम था—दिनभर कवि-गोष्ठी हुआ करती थी । आज यह व्यतिक्रम कैसे हुआ ?

रईस—बैठ जाइये, अभी बताता हूँ । (वारुणी सभापतिके सामनेवाली पङ्क्तिमें बैठ जाती है । श्रोताओंसे) श्रीमती वारुणीजी और सज्जनो ! आपको यह सुनकर खेद होगा कि हमारे नगरके पाँच सुप्रसिद्ध कवि सर्वश्री कुमुद, मयङ्क, सुधांशु, कलाधर और मृगाङ्क हमारा नगर छोड़कर जा रहे हैं । हमने बहुत समझाया, अनुनय-विनय किया, पर उनको जो विरक्ति हुई है, उसे हटानेमें हम सर्वथा निष्फल रहे । उन्हींके स्वागतमें, उनको नगरवासियोंकी ओरसे खेदपूर्वक विदाई देनेके लिये मैंने यह गोष्ठी निर्धारित दिनसे पहले —ी है । हमारे इन पीयूषवर्षी कवियोंने वर्षोंसे नगरवासियोंका मनोरञ्जन किया है । इनका वियोग हमारे लिये निश्चय ही खेदजनक है । अब आप परस्पर वार्तालाप करके कवि महानुभावोंपर यहीं बसे रहनेके लिये कुछ प्रभाव डाल सकें, तो प्रयत्न करके देख लीजिये ।

(रईस बैठ जाते हैं ।)

वारुणी—कवि महानुभाव क्या विरक्तिका कारण बता सकते हैं ?

कुमुद—कवि-गोष्ठीमें कविता सुनाना तो एक बहानामात्र था । वास्तवमें मैं तो सौन्दर्योपासक था, आराध्य मनोहारिणी प्रतिमाएँ, जो कवि-गोष्ठीमें आया करती थीं; पर अब तो देवियाँ प्रायः सभी दाढ़ी लगाने लगीं जो मुझे ऐसा लगता है, मानो चन्द्रदेवके हाथमें झाड़ू पकड़ा दी गयी है । मुझे दाढ़ीसे घृणा है, इससे मैं किसी और नगरमें बसने जा रहा हूँ, जहाँ सदा शुद्ध चन्द्रदेवके दर्शन होंगे । (बैठ जाता है ।)

मयङ्क—समानाधिकार-आन्दोलन स्त्रियोंके मूर्खा होनेका एक प्रबल प्रमाण हो गया; क्योंकि उनको पुरुषोंसे कहीं अधिक अधिकार पहलेसे ही प्राप्त हैं, जिन्हें वे कम करके समान किया चाहती हैं । मैं ऐसी मूर्खतासे घृणा करता हूँ ।

सुधांशु—जब स्त्रियाँ लकड़ी चीरेंगी, सड़कें कूटेंगी, ठेला ढकेलेंगी, ईंटें ढोयेंगी और गाय-भैंस चरायेंगी, तब तो धूपके मारे उनके शरीरकी कोमलता और मुखकी सुन्दरता ही नष्ट हो जायगी; तब मैं यहाँ रहकर क्या करूँगा ? इससे मैं तो भविष्यकी चिन्तासे व्याकुल होकर भागा जा रहा हूँ । (बैठ जाता है ।)

कलाधर—सैकड़ों कुरूपा स्त्रियोंको पुरुषोंने और हजारों कुरूप पुरुषोंको स्त्रियोंने उनके चरित्रपर दोष लगाकर उन्हें तिलाक दे दिया है । अब किसीपर कोई नियन्त्रण रह नहीं गया है; वे स्वतन्त्ररूपसे अलग-अलग अनाचारके केन्द्र भी बन गये हैं । मुझे धर्मका यह पतन देखकर दुःख होता है; इससे मैं इतनी दूर चला जाना चाहता हूँ, जहाँ ये दृश्य ही दिखायी न पड़ें, बल्कि इनकी चर्चा भी सुनायी न पड़े । (बैठ जाता है ।)

मृगाङ्क—मैं पुरुषोंका तिरस्कार सह सकता हूँ, पर स्त्रियोंका नहीं; क्योंकि वे मेरी मातृ-जातिकी हैं । आज इस असामयिक, अवाञ्छित और केवल अनिष्टकारी आन्दोलन और उसके समर्थक कानूनने दोनोंमें बदलेकी भावना भर दी है और हजारों घरोंकी गृहस्थीमें दुःख ढकेल दिया है । एक सुपात्र स्त्री घरके खंभेसे भी ज्यादा मजबूत होती है, आज वह खंभा टूट रहा है । मैं रक्तके आँसू रोता हुआ इस असह्य वेदनासे बचनेके लिये दूर चला जाऊँगा । (बैठ जाता है ।)

वारुणी—(बैठे-बैठे) तो मैं ही अपने प्यारे कवियोंके देश-निकालेका कारण बन रही हूँ । मुझे हार्दिक दुःख है । और इस बातका भी दुःख है कि शिक्षित लोग भी अभीतक स्त्रियोंके समानाधिकारकी माँगको गलत समझ रहे हैं । वे भी स्त्रियोंको पुरुषोंकी दासी बने रहनेकी रूढ़िका समर्थन करते हैं !

एक श्रोता—स्त्रियोंको दासी तो कोई नहीं

कामका बँटवारा उनकी शारीरिक योग्यता और स्वभावके गुणोंके अनुसार किया गया है। स्त्रियाँ तो क्षमा, दया और स्नेहकी साक्षात् दैवी मूर्तियाँ हैं। उनको ऐसे काम दिये गये हैं, जिनमें वे अपने इन गुणोंका उपयोग करें और गृहस्थीमें सुखोंकी वृद्धि करें।

दूसरा श्रोता—सौन्दर्यसे स्त्री अभिमानी बनती है, उत्तम गुणोंसे प्रशंसाकी अधिकारिणी बनती है, किंतु लज्जासे वह 'देवी' बन जाती है। हम ऐसी देवियोंका निरादर कैसे कर सकते हैं ?

तीसरा श्रोता—खेद है, कुछ पढ़ी-लिखी बहनोंने उस लज्जाका त्याग कर दिया है, आजकलके गृह-कलहका मूल कारण यही है।

चौथा श्रोता—हमारी माँ और बहनें भी स्त्रियाँ ही हैं। हम तो उनके स्नेह-सागरमें एक लंबे जीवनतक डूबे ही रहते हैं। उनको दासी कौन समझता है ? स्त्री तो जंगलको भी राजमहलसे सुन्दर बना देती हैं।

पाँचवाँ श्रोता—स्वर्गमें कौन-सी ऐसी चीज है, जो स्त्रीमें नहीं है। अद्भुत तेज, पवित्रता, सत्य, अनन्त आनन्द और अमर प्रेम सभी तो उसमें हैं। उनका निरादर कौन करता है ?

छठा श्रोता—तारागण आकाशकी कविता हैं, तो स्त्रियाँ पृथ्वीकी। प्रेम उनका दिव्य प्रकाश है, जो घरभरको प्रफुल्लित किये रहता है।

रईस—(हँसकर) मेरी स्त्री तो जब क्रोधमें होती है, तब मेरी ओर नहीं देखती। उसे विश्वास है कि मेरी ओर देखेगी तो उसकी क्रोधाग्नि प्रेमका जल बनकर बह जायगी।

(वारुणी चुपचाप सिर झुकाये सुन रही है।)

वारुणी—आप सज्जनोंके मुखसे स्त्री-जातिकी प्रशंसा सुनकर मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठा है। पर प्रशंसाके अनुकूल व्यवहार भी होता हुआ दिखायी पड़ता तो इस आन्दोलनकी आवश्यकता ही न रहती।

एक श्रोता—अब आप अपने कवियोंको मना लीजिये। उनके चले जानेसे नगरकी शोभा चली जायगी।

वारुणी—उनके जानेका मुझे दुःख है। पर मैं अपना आन्दोलन तो नहीं बंद कर सकती। स्त्री-हठ तो आप जानते ही हैं। बिना अन्तिम सीमापर पहुँचे मैं नहीं रुकूँगी। समानाधिकारका कानून बन गया है, उसका सर्वत्र पालन होने लगेगा, तभी मुझे शान्ति मिलेगी।

दूसरा श्रोता—अयोग्यको तो कहीं भी सुख नहीं मिलेगा, चाहे स्त्री हो या पुरुष। सुख स्वभावकी सरलता, त्याग और सहिष्णुतासे मिलेगा, कानूनसे कभी नहीं।

वारुणी—(उपेक्षासे) देखा जायगा।

कुमुद—(आवेशमें) मैं दाढ़ीदार मुखोंको देखना तो क्या, उनपर थूकना भी नहीं चाहूँगा।

रईस—कविजी ! शान्त होइये। आज हमारी-आपकी अन्तिम संध्या है, इसे हर्षोल्लासहीमें बीतने दीजिये।

वारुणी—यह कविजीकी शिष्टता है। मुझे तो अभी इससे भी कठिन परीक्षामें उतरना है।

रईस—सज्जनो ! आजके कार्यक्रमके अनुसार हमलोग सङ्गीतका भी कुछ आनन्द ले लें, फिर अपने प्यारे कवियोंके साथ जलपान करके उन्हें प्रेमपूर्वक विदा करें। (एक तान-पूरेवाले गायकसे, जो श्रोताओंमें आगे बैठा है।) अब आप कुछ सुनाइये।

गायक—(बेला बजाकर गाता है।)

समझकर चलना जग है बिराना।
किसने दिया है और दिया क्यों ?
कोई पता नहीं कोई ठिकाना ॥ समझ० ॥
कब लेगा वह छीन अचानक
जोगी जती मुनि कोई न जाना ॥ समझ० ॥
जो मन माँगे झटपट कर ले,
फिर न सुनेगा कोई बहाना ॥ समझ० ॥
ऐसे जगतका कौन भरोसा
सुख देकर सुख ले ले दिवाना ॥ समझ० ॥

(गायक गान समाप्त करके चुप हो जाता है।)

कलाधर—(रईससे) हमें दूसरे मित्रोंसे भी मिलना है, कृपया जल्दी कीजिये।

सुधांशु—(रईससे) हमें बड़ी खुशी है कि श्रीमती वारुणी देवीजी यहीं मिल गयीं, नहीं तो, हमलोग इनसे भी विदा लेने इनके घरपर जाते; क्योंकि ये भी कविगोष्ठीकी सदस्या थीं।

वारुणी—मुझे लज्जित मत कीजिये। मेरा आन्दोलन सफल होगा तो इस गोष्ठीकी चमक कहीं ज्यादा बढ़ जायगी, जब पुरुषोंसे अधिक स्त्रियाँ भी भाग लेने लगेंगी। और तब मैं स्वयं आकर आप सबको मना लाऊँगी। आज तो मैं क्षमा ही माँगती हूँ।

रईस—(उठकर) सज्जनो, हमारे कवि महानुभावोंको अभी अन्य मित्रोंसे मिलने जाना है। इसलिये जल्दी है। अब यहाँका मिलन-समारोह समाप्त किया जाता है। अब आप सब कृपा करके दूसरे कमरेमें पधारिये। वहाँ जलपानका प्रबन्ध है। वहींसे हमलोग अपने कवि महानुभावोंको प्रेम और सम्मानपूर्वक शुभ कामनाओंके साथ विदा करेंगे।

(सब उठते और जाते हैं। रईस कवियोंको साथ लेकर जाता है।)

छठा दृश्य

समय—दोपहर।

स्थान—रास्तेके किनारेका एक बाग।

(बागमें पेड़ घने लगे हैं। छाया काफी है। वारुणी रास्तेके किनारेके एक घने पेड़की छायामें एक पेड़की मोटी जड़पर बैठकर सुस्ता रही है।)

वारुणी—(आप-ही-आप) दिन बीत गये, महीने बीत गये, वर्ष बीतनेको है, स्त्री-जातिके उद्धारका कोई सरल रास्ता अभीतक दिखायी नहीं पड़ा। गाँव-गाँव फिर रही हूँ। पैरोंमें छाले पड़ गये, जीभ घिस गयी। इतनी मेहनतसे। स्त्रियोंका कण्ठ खुलने तो लगा है, वे अपने अधिकारोंको समझने भी लगी हैं, पर शिक्षा न होनेसे उनका अज्ञान जल्द दूर नहीं होगा। अभी वे मेरी बातें सुनकर भड़कती हैं। पुरुषोंका आतङ्क उनके सिरमें जड़ पकड़े हुए है। उसे उखाड़ फेंकनेमें अभी काफी समय लगेगा। पर कोई परवा नहीं। मेरा उत्साह अदम्य है, मैं पुरुषोंका मान-मर्दन करके ही दम लूँगी।

(चार देवियाँ एक-दूसरेके पीछे चलती हुई आती हैं और वारुणीको बैठी हुई देखकर खड़ी हो जाती हैं। दाढ़ी किसीके नहीं है।)

वारुणी—(पहलीसे) तुमलोग गठरियाँ बाँधे कहाँ जा रही हो ? क्या समानाधिकार-आन्दोलनका प्रचार करने जा रही हो ?

पहली—मुझे मेरे पतिने यह कहकर तलाक दे दिया कि तुम्हारा रंग काला है।

वारुणी—अदालतने इस कारणको मान कैसे लिया ?

पहली—अदालतको तो यह बताया गया कि मेरी चाल-चलन खराब है।

वारुणी—प्रमाण ?

पहली—पुरुष तो सब एक साथ हो गये हैं। एकने गवाही दी कि यह मेरे पास आती-जाती रही।

वारुणी—(घृणाका भाव प्रकट करते हुए) बेशर्मीकी हद हो गयी। (दूसरीसे) तुम्हारा क्या हाल है ?

दूसरी—मुझे भी तिलाक मिल गया। मेरे पतिने कहा कि तुम्हारी नाक चपटी है और अदालतमें मुझे भी बदचलन साबित किया गया।

वारुणी—(तीसरीसे) तुम्हारा भी ऐसा ही हाल हुआ होगा ?

तीसरी—हाँ, मेरे पतिने यह कहकर मुझे तिलाक दे दिया कि बहुत मोटी हो, इससे तुम्हारे संतान नहीं होती। और अदालतमें वही दुराचारका आरोप।

वारुणी—(चिन्तित-सी होकर चौथीसे) तुम्हारा असली अपराध क्या था ?

चौथी—ब्याहके बाद मुझे चेचक निकल आयी थी, इससे चेहरा खराब हो गया था और मैं दाढ़ी भी लगाने लगी थी। पतिने कहा—मुझे तुम नापसंद हो और अदालतमें जाकर मुझपर दुराचारिणी होनेका अपराध लगाकर तिलाक दे दिया।

वारुणी—तुम्हारी दाढ़ी क्या हुई ?

चौथी—उसे भी मैं उसी घरमें फेंक आयी हूँ। लगाकर निकलनेसे गाँवोंके लड़के पीछे लग जाते थे और चिल्लाते थे, भूतनी है, भूतनी।

(वारुणी कुछ क्षण चुप रहती है।)

वारुणी—(आप-ही-आप) समानाधिकार-आन्दोलनके रास्तेमें क्या-क्या बाधाएँ हैं, एक-एक करके सब बाहर आ रही हैं। सबका हल निकालना पड़ेगा। (प्रकट) तब तुम-लोग भागी कहाँ जा रही हो ?

चौथी—स्टेशनपर जा रही हैं। वहाँसे अपने-अपने माता-पिताके घर चली जायँगी। अब शरणकी जगह तो वहीं है।

वारुणी—तुम सबको अपने-अपने घरोंहीमें डटकर रहना चाहिये था। उस घरकी सम्पत्तिमेंसे तुमको भी तो कुछ मिलेगा ? अदालतने कुछ तो दिलाया ही होगा ?

पहली—दिलाया है, पर घरमें तो हम घुसने ही नहीं पातीं।

दूसरी–मैंने बड़ा अपमान किया था, अब किस मुँहको लेकर उनके पास जाऊँ ?

तीसरी–मैंने तो दो उपवास किये, कोई एक घूँट पानीके लिये भी पूछने नहीं आया।

चौथी–महल्लेमें निकलती हैं, तो जो देखता है, वही घृणा करता है और दो-चार जली-कटी सुना देता है।

वारुणी–पुलिसमें जाती, अदालतमें जाती, सरकार तो रक्षा करनेके लिये हर वक्त तैयार रहती है।

पहली–यह कहनेकी बात है। कानून इतना सस्ता नहीं है कि गरीब भी उससे लाभ उठा सकें।

दूसरी–वकीलकी फीस हम कहाँ पायेंगी ?

तीसरी–हमें वकील भी तो नहीं मिलते।

चौथी–मैं एक वकीलके पास गयी थी, वह मुझे दुराचारिणी जानकर घृणा प्रकट करने लगा, मैं लौट आयी।

वारुणी–(गम्भीर होकर आप-ही-आप) इस रास्तेमें काँटे बहुत हैं। (प्रकट आह भरकर) पुरुष इतने चरित्रहीन हो गये हैं कि उनके साथ स्त्री-जातिका भी पतन हो रहा है। (सबसे) अच्छा, तुमलोग जाओ। मैं कोई-न-कोई उपाय करूँगी कि कम-से-कम तुम्हारे हिस्सेकी सम्पत्ति तो तुमको मिल जाय। (जिज्ञासाके स्वरमें) इन गठरियोंमें क्या है ?

पहली–घरवालोंने जो-जो चीजें हमारे सामने फेंक दीं, उन्हें ही बटोरकर लिये जा रही हैं।

(चारों नमस्ते करके जाती हैं। एक कुरूप पुरुष सिरपर एक गठरी लिये हुए आता है। छाया देखकर वारुणीके पास बैठ जाता है।)

वारुणी–तुम कहाँ जा रहे हो, भाई !

पुरुष–स्त्रीने मुझे घरसे निकाल दिया, अब मैं मथुरा, वृन्दावन जाऊँगा।

वारुणी–क्यों निकाल दिया ?

पुरुष–स्त्रीने कहा, तुम बड़े कुरूप हो, तुम्हारा रंग काला है, नाक मोटी है, गंदगीसे रहनेकी आदत है और फिर अदालतमें ले जाकर मुझपर यह अपराध लगा दिया कि मैं दुराचारी हूँ। एक स्त्रीने आकर गवाही भी दे दी कि मेरे यहाँ आते-जाते हैं।

वारुणी–सच क्या है ?

पुरुष–मैं अपनी स्त्रीके समान सुन्दर नहीं हूँ जरूर और मानता हूँ कि कुरूप हूँ, पर दुराचारी बिल्कुल नहीं हूँ। युवावस्थामें मेरा विवाह हुआ था। घरकी गरीबीके कारण मैंने पढ़ना बीचहीमें छोड़कर सरकारी नौकरी कर ली और अपने परिश्रम और सचाईके बलपर बढ़ता-बढ़ता मैं अफसर बन गया। उसी बीचमें माता-पिताका देहान्त हो गया था। मैं ही घरका मालिक था, मैं ही कमाता था। हम दोनोंमें बड़ा प्रेम था। मेरी स्त्री मेरे सुख-दुःखका सदा ध्यान रखती थी।

वारुणी–स्त्री भी पढ़ी-लिखी है ?

पुरुष–हाँ, बी० ए० तक। उसके पिता सम्पन्न व्यक्ति हैं, उन्होंने उसके इच्छानुसार बी० ए० तक पढ़ा दिया था।

वारुणी–फिर तुम दोनोंमें फूट कैसे हुई ?

पुरुष–समानाधिकारके आन्दोलनसे, तिलाक देनेका अधिकार मिल जानेसे। स्त्रीने कहा—तुम घरका काम करो, आफिसका काम मैं देखूँगी। मैंने इस्तीफा दे दिया, सरकारने वही जगह उसे दे दी।

वारुणी–बुरा क्या हुआ ? पैसे तो घरमें बराबर ही आते रहे ?

पुरुष–बुरा हुआ या भला, यह तो मैं समझ ही न सका। पैसा जरूर बराबर आता रहा, पर घरमें अधिकारकी चर्चा आ गयी और कर्तव्य निकल गया।

वारुणी–तुम घरमें रहकर क्या करते थे ?

पुरुष–बहुत सबेरे उठकर दूध लाता, चाय तैयार करता, एक प्याला चाय स्त्रीको बिछौनेहीपर ही देता, 'सरकार! चाय तैयार है'—कहकर जगाता, फिर बाजार जाता, बाजारसे साग-तरकारी लेकर आता, तब चूल्हा जलाता, जो खाना स्त्री माँगती, उसे तैयार करता, फिर पानी भरकर रख देता, स्त्री नहाती, कपड़े उठाकर देता, पहनती, फिर खाना खातीं, थोड़ा आराम करतीं, तबतक मैं उनके बूटमें पालिश कर देता। फिर आफिसके कपड़े पहनकर वे आफिस चली जातीं और मैं अपने खाने-पीनेमें लगता। चार बजे वे दो-चार मित्र-मित्राणियाँ लेकर आतीं, मैं सबको चाय पिलाता। इसके बाद वे कहीं बेडमिन्टन खेलने चली जातीं और मैं रातकी रसोईमें लग जाता।

वारुणी–तुम्हारा तो बिल्कुल जीवन ही बदल गया होगा। तुमसे वह प्रेमसे बोलती नहीं थी ?

पुरुष–उसके प्रेमकी तो मेरी आशा ही मर गयी थी।

दिनमें दो-चार बार मैं तो उसका मुँह देखकर ही ऐसा तृप्त हुआ रहता था कि मान-अपमान मैं कुछ समझता ही न था। क्या कहूँ ?

रहिमन एक दिन वे रहे, बीच न सोहत हार।
हवा जो ऐसी बहि गई, बीच न परे पहार॥

(आह भरकर) दिनभर हुक्म सुनते-सुनते अब हुक्म सुननेकी ही मेरी आदत पड़ गयी है। आज सवेरेसे हुक्म सुननेके लिये मैं छटपटा रहा हूँ। क्या करूँ ?

वारुणी—तुम तो पूरा घर सँभाले हुए थे, तुमको उसने छोड़ा क्यों ?

पुरुष—अपने मित्रोंमें वह मुझे अपना पति कहनेमें लजाती थी; क्योंकि उसके सामने सचमुच मैं बहुत कुरूप हूँ।

वारुणी—फिर तुमने घर क्यों छोड़ दिया ? तुमको तो घरकी सम्पत्तिमेंसे भाग मिलता ?

पुरुष—अब अभिमान आ गया है। स्त्रीका दास बनकर पुरुष क्यों रहे ? घरकी सम्पत्ति वही भोगे।

वारुणी—अब कहाँ जाओगे ?

पुरुष—अब किसी तीर्थमें जा बसूँगा। मथुरा-वृन्दावन जानेका विचार है।

वारुणी—अयोध्याजी क्यों नहीं जाते ? वह भी तो तीर्थ है ?

पुरुष—वहाँ मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका राज्य है। वहाँ कड़ी तपस्या करनी पड़ेगी।

वारुणी—और मथुरा-वृन्दावनमें ?

पुरुष—वहाँ रसिक-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी-का राज्य है। वहाँ निभ जाऊँगा।

वारुणी—अभी रूप-दर्शनकी लालसा नहीं गयी ?

पुरुष—जो रूप देखता रहा हूँ, वह इतनी जल्दी भुलाया नहीं जा सकता।

वारुणी—दूसरा विवाह कर लो ?

पुरुष—विवाह एक बार ही होता है। मनुष्य अमर नहीं, पर धर्म अमर है। जिस धर्मका हाथ पकड़ लिया, उसे इस जीवनमें नहीं छोड़ूँगा।

वारुणी—तुम भी स्त्रीको तिलाक दे सकते थे ?

पुरुष—मैं नहीं दे सकता था, मैं पुरुष हूँ। किसीका हाथ पकड़ लेनेपर मैं छोड़ना नहीं जानता। विवाह एक तप है। इसका सम्बन्ध शारीरिक भोग-विलाससे नहीं है, आत्मासे है।

(वारुणी थोड़ी देरतक विचार-मग्न रहती है।)

वारुणी—अच्छा भाई ! वही करो, जिससे सुख मिले।

(पुरुष थोड़ी देरतक चुप बैठा रहता है, फिर उठकर गठरी उठाता है और उसे सिरपर रखकर चला जाता है। एक दूसरा पुरुष गठरी लिये आता है। वह भी सुस्तानेके लिये वारुणीके पास बैठ जाता है।)

वारुणी—तुम कहाँ जाओगे, भाई !

पुरुष—जहाँ भगवान् ले जायँगे।

वारुणी—क्या घरसे भागकर जा रहे हो ?

पुरुष—नहीं, घरसे निकाल दिया गया हूँ। मेरी स्त्रीने मुझे तिलाक दे दिया है।

वारुणी—क्यों ? तुम्हारा क्या अपराध था ?

पुरुष—कामसे थका-माँदा घर आया तो मैंने देखा, वह अपने मित्रसे बात कर रही थी, मैंने उसे पुकारा। इसपर वह बिगड़ गयी और बोली कि 'मित्रसे बातें करते समय तुमने मुझे क्यों पुकारा ?' यहींतक उसका क्रोध समाप्त नहीं हुआ, वह अदालत पहुँची और मुझपर बदचलन होनेका इल्जाम लगाकर मुझे तिलाक दे दिया !

(पुरुष और वारुणी दोनों कुछ समयतक चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर पहले पुरुष उठकर जाता है, उसके बाद वारुणी उठकर एक ओरको चली जाती है।)

सातवाँ दृश्य

समय—दिनका पहला पहर।

स्थान—गाँवके एक गृहस्थके घरका सामना।

(मिट्टीके एक सुन्दर घरके सामने नीमका एक पेड़ है। पेड़-की छायामें एक बैठक बनी है। बैठकके सामने छायामें, एक खाट-पर एक पुरुष बीमार पड़ा है। वह बहुत दुर्बल और मृतप्राय हो रहा है। एक बहुत सुन्दरी युवती स्त्री सफेद धोती पहने उसके सिरहाने-की ओर एक पीढ़ेपर बैठी हुई बीमारको पंखा हाँक रही है। बीमार सो रहा है। वारुणीका प्रवेश। वारुणी आकर उस स्त्रीके पीछे कुछ दूरीपर खड़ी हो जाती है। स्त्री गर्दन घुमाकर वारुणीको देखती है। पंखी खाटपर रखकर वह उठ खड़ी होती है और वारुणीकी दाढ़ी देखकर एक बार तो वह चकित होकर एकटक देखने लगती है, फिर शीघ्र ही सावधान हो जाती है।)

स्त्री—आओ बहन, कहाँसे आ रही हो ?

(स्त्री वारुणीको कुछ दूरीपर ले जाकर तख्तेपर, जो पहलेसे

ही बिछा था, बैठाती है और स्वयं भी तख्तेके दूसरे सिरेपर बैठ जाती है।)

वारुणी—बहन ! तुम मेरी दाढ़ी देखकर पहले तो चमकी, फिर एकाएक तुमने मुझे बहन कैसे कहा ? पहचाना कैसे कि मैं स्त्री हूँ।

स्त्री—(सिरके कपड़ेको माथेपर खसकाती हुई सलज्ज मुसकराहटके साथ) स्त्री आँखोंसे पहचान ली जा सकती है, बहन ! (जरा रुककर) तुम जरा बैठो, मैं आती हूँ।

(स्त्री उठकर घरमें जाती है और जल्दी ही कटोरेमें कुछ खानेकी चीजें और लोटेमें पानी और गिलास लेकर आती है और वारुणीके सामने रख देती है।)

वारुणी—(नम्रतापूर्वक) मैं तो एक गाँवमें टिकी थी। वहाँसे सवेरे कुछ खा-पीकर चली हूँ, तुमने क्यों कष्ट किया बहन !

स्त्री—(नम्रतापूर्वक) कष्ट क्या है ? यह तो मेरा सौभाग्य है कि तुमने मुझे कुछ सेवा करनेका अवसर दिया। घरपर आये हुए अतिथिका सेवा-सत्कार तो मेरे कुलका परम्परागत नियम है। इसे स्वीकार करो।

(वारुणी कटोरेकी चीजें खाकर गिलासमें पानी उँड़ेल कर पीती है और कमरमें लटकते हुए रुमालको हाथमें लेकर मुँह पोंछती है। स्त्री लोटा, गिलास और कटोरेको उठाकर एक कोनेमें रख आती है और फिर अपनी जगहपर आ बैठती है।)

वारुणी—बहन ! ये जो खाटपर बीमार पड़े हैं, तुम्हारे पति जान पड़ते हैं ?

स्त्री—हाँ बहन ! वे मेरे पतिदेव हैं। कई महीनोंसे बीमार पड़े हैं।

वारुणी—इनका चेहरा तो पीला पड़ गया है।

स्त्री—हाँ, वैद्यने रोगको श्रमसाध्य बताया है।

वारुणी—तुम बहुत दुखी हो। (जरा रुककर) तुमने बहन ! बहुत सुन्दर शरीर पाया है, अभी तुम्हारी युवावस्था भी है, तुम एक मरणासन्न रोगीके साथ अपना जीवन कैसे बिता रही हो ?

स्त्री—(शान्त भावसे) पाणिग्रहणके समय मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की थी, अब उसे कैसे तोड़ूँ ? पतिकी सेवासे बढ़कर युवावस्थाका सदुपयोग दूसरा क्या हो सकता है ? बहन !

वारुणी—तुम तो शिक्षिता स्त्री मालूम होती हो ?

स्त्री—हाँ, मेरे पूज्य पिताजीने मुझे संस्कृतकी शिक्षा दिलायी थी।

वारुणी—विवाहके समय तुम्हारे पतिदेवकी शिक्षा कितनी थी ?

स्त्री—मुझसे कम थी।

वारुणी—तब तो तुम्हारा जीवन कष्टसे ही बीता होगा ?

स्त्री—विवाहके बाद तो मेरा अपना जीवन तो कुछ रह ही नहीं गया था। मैंने तो पतिदेवको अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया है। मैं उनमें समा गयी हूँ। अतएव मेरी शिक्षा भी उन्हींकी सम्पत्ति है।

वारुणी—तुम दोनोंके स्वभावमें तो अन्तर रहा ही होगा ?

स्त्री—था। पतिदेवके स्वभावमें क्रोधकी मात्रा अधिक थी, यह देखकर मैंने सहिष्णुताकी मात्रा बढ़ा ली; इससे क्रोध अब प्रेममें परिणत हो गया है। वे मेरे हृदयमें बसते हैं। मैं जो कुछ सोचती हूँ, वह उन्हींके विचार होते हैं, जो कुछ करती हूँ, वह उन्हींकी इच्छाका परिणाम होता है, जो आज्ञा देती हूँ, वह उन्हींकी आज्ञा होती है। हम दो शरीर किंतु एक मन-प्राण हैं। हममें एक दूसरेसे सुख या दुःखका बदला पाने या लेनेकी भावना ही नहीं है।

वारुणी—उनके भी भाव ऐसे ही हैं ?

स्त्री—दो धाराएँ मिलकर जब साथ बहती हैं, तब उनमें अन्तर रह ही नहीं जाता। जैसे गङ्गा और यमुना।

वारुणी—पर पुरुषने तो स्त्रीको दासी बना रखखा है ?

स्त्री—दासी होने योग्य स्त्री दासी ही होगी। मैं तो न दासी हूँ, न स्वामिनी; मुझे तो पतिदेवका मन्दिर कह सकती हो।

वारुणी—स्त्रियोंके अधिकार भी तो कुछ हैं ?

स्त्री—मैं नहीं जानती, बहन ! स्त्रियोंके समानाधिकार-आन्दोलनकी चर्चा मैंने सुनी है, पर समझ नहीं सकी। तुम भी उसके आन्दोलनकारियोंमेंसे कोई होगी, यह मैं तुम्हारी दाढ़ी देखकर कह रही हूँ। पति-पत्नीके बीचमें अधिकार नामकी कोई अलग वस्तु होती ही नहीं; कर्तव्य-पालनमें उनको स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त है।

वारुणी—यदि दुर्भाग्यसे, भगवान् न करे, तुम्हारे पतिका देहान्त हो गया तो ?

स्त्री—(हँसकर) उनके शरीरका अन्त हो सकता है,

पर जबतक मैं जीवित रहूँगी, वे मर नहीं सकते। वे मेरे हृदयमें जीवित रहेंगे।

(पढ़ती है)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वारुणी—(विनययुक्त स्वरमें) मुझे याद पड़ता है, एक स्वप्नमें मैंने ब्रह्मासे यही श्लोक सुना था। इसका अर्थ क्या है? बहन!

स्त्री—ऐसा समझो, मैं पतिके प्रेमसे पूर्ण हूँ, पति मेरे प्रेमसे पूर्ण हैं, पूर्णसे पूर्ण मिलेगा तो पूर्ण ही रहेगा और पूर्णसे पूर्ण निकल जायगा तो भी पूर्ण ही बचेगा। अर्थात् दोमेंसे एक शरीर जबतक रहेगा, तबतक दोनों जीवित रहेंगे।

(इसी बीचमें बीमारको खाँसी आती है, स्त्री झटपट आती है और बीमारके मुखसे निकले हुए कफको हाथमें लेकर दूर फेंक आती है और हाथ धोने लगती है।)

वारुणी—(आप-ही-आप) श्लोकका अर्थ बड़ा गूढ़ है। इस बहनने जो उदाहरण दिखाया है, उसमें तो समानाधिकारका प्रश्न ही नहीं उठता। तो क्या मैं गलतीपर हूँ? क्या समानाधिकारका आन्दोलन निरर्थक है? (सोचती है। इतनेमें स्त्री आकर फिर अपनी जगहपर बैठ जाती है।)

वारुणी—बहन! राम और सीता तो आदर्श दम्पति थे। फिर भी रामने सीताको घरसे निकाल दिया था। क्या पाणिग्रहणकी मर्यादाका उन्होंने उल्लङ्घन नहीं किया?

स्त्री—राम दो थे बहन! एक राजा राम, दूसरे पति राम। सीताको सीताके पति रामने नहीं निकाला, राजा रामने निकाला था। राजा राम राजसिंहासनपर बैठकर राजधर्मका पालन करते थे; पर जब पतिके रूपमें अपने निवास-गृहमें आते थे, तब सुनती हूँ, वे सोनेके पलँगका परित्याग करके भूमिपर चटाई बिछाकर सोते थे; क्योंकि वनमें सीता भी भूमिपर सोती रही होंगी। आहार भी वे वही लेते थे जो वनवासी लिया करते थे। राम सबके लिये सुलभ हैं, पर पति राम तो परम सौभाग्यवती सीताहीको मिले थे। वैसे ही सीताका जीवन भी पति-प्रेमसे ओतप्रोत है। सीता भूमिमें समा गयीं तो रामने जल-समाधि ले ली। यह राजा रामपर सीताके प्रेमकी बड़ी विजय थी। पति-पत्नीका यह गूढ़ प्रेम मनुष्यके अन्धकारमय मार्गका एक अमर दीपक है।

वारुणी—बहन! समानाधिकारका आन्दोलन तो पति-पत्नीसे ही सम्बन्ध रखता है। अब मैं समझ रही हूँ कि कानूनी अधिकार लेकर कोई पत्नी या पति सुखी नहीं हो सकते। सुख तो दो धाराओंको एकमें मिलकर बहनेमें है। यमुना अपने नीले जलको अलग रखकर गङ्गाके प्रवाहमें बह नहीं सकती।

स्त्री—ठीक समझ रही हो बहन! पति-पत्नी इसी तरह एक दूसरेमें समा जायँ तो सुरूप और कुरूपका प्रश्न ही नहीं उठेगा। कर्तव्य-पालन करना ही मनुष्यका सच्चा सौन्दर्य है। चमड़ेका रंग नहीं, चाहे वह पुरुषका हो या स्त्रीका।

वारुणी—बहन! अपने बीमार पतिकी तुम जैसी सेवा कर रही हो, उसमें तुम्हारी दयालुताका अद्भुत दर्शन हो रहा है।

स्त्री—दयालुता तो स्त्री-जातिका स्वाभाविक धर्म है, बहन! दयालुता वह भाषा है, जिसे बहरे सुन सकते हैं और गूँगे समझ सकते हैं। दयालुतासे ही जगत् सुखी हो सकता है। मेरे पतिदेव बड़े दयालु हैं, मेरी दयालुता तो उन्हींकी विभूति है।

(वारुणी उठती है और दाढ़ी नोचकर तख्तेपर रख देती है।)

वारुणी—(हाथ जोड़कर प्रणाम करके) बहन! तुम मेरी गुरु हो। मेरी आँखें खुल गयी हैं। तुमने मुझे जीवनका सच्चा मार्ग दिखा दिया है। अब मैं इस आन्दोलनको समाप्त करके अपने पतिदेवमें अपनेको समाप्त करने जा रही हूँ। भगवान्‌से प्रार्थना करती हूँ कि तुम्हारे पतिदेव शीघ्र नीरोग हो जायँ।

स्त्री—बहन! तुम्हारे सच्चे हृदयकी प्रार्थना भगवान् जरूर सुनेंगे। तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो। (उठकर) दाढ़ी तो लिये जाइये।

वारुणी—इसे बच्चोंको दे दीजियेगा, खेलेंगे।

(वारुणी फिर प्रणाम करके जाती है। स्त्री बीमारके पास चली जाती है।)

स्त्री—(स्वतः)

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

ते ब्राह्मणास्तारयितुं समर्थाः

वे ब्राह्मण ही तार सकते हैं

(लेखक—आचार्य श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ, सदस्य विधानसभा, उत्तरप्रदेश)

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
इह कृच्छ्राय तपसे प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥
(मनु)

ब्राह्मणका देह क्षुद्र कामके लिये नहीं है ।

हमारा राष्ट्र शूद्रबहुल है, नास्तिकाक्रान्त है, अद्विज अर्थात् सच्चे ब्राह्मणोंसे विहीन होता जा रहा है। भारतवर्षकी इस समयकी विचित्र गति-विधिको देखकर प्रश्न उठता है कि 'उसको कौन उठा सकता है ? उसको कौन तार सकता है ? अब ऐसे समयमें जब कि किसीकी पगड़ी किसीके सिरपर नहीं है, अथवा कोई भी अपनी पगड़ी भलीभाँति नहीं सँभाल रहा है, अथवा किसी जातिका भी स्वभावानुकूल नियतकर्म—नहीं रहा है, अथवा दण्डशासनद्वारा नियत कर्मोंमें प्रवृत्त करानेवाला शासन भी सिरपर नहीं है, ऐसे समयमें यथार्थ मार्गदर्शन कौन करा सकता है, कौन स्वयं मर्यादामें चलकर प्रजाको मर्यादामें चला सकता है, अथवा कौन तार सकता है' इत्यादि प्रश्न सामने आ जायँ, अथवा खड़े हो जायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।

प्रश्न है—कौन तार सकता है ?

उत्तर है—ब्राह्मण तार सकते हैं।

उत्तरके ठीक रहनेपर भी यह विवेचन करना कठिन ही है कि किस प्रकारके ब्राह्मण तार सकते हैं ?

किसी समय ब्राह्मण-जाति, जिसकी त्याग-तपस्या संसार-विदित थी और आज भी जो जाति अपने पूर्वजोंके पूर्वजोंके अति प्राचीन पूर्वजोंके त्याग-तपस्यामय जीवनके आश्रयसे, अथवा उनका नाम ले-लेकर ही श्वास-प्रश्वास ले रही है और आजकल केवल जातिमात्रोपजीवी बन रही है, वह भी जग उठी है और टटोल रही है कि उसका क्या-क्या खो गया है, क्या-क्या शेष रह गया है ।

हमने इस लेखका शीर्षक भागवतसे लिया है, जिसका अर्थ है कि कौन ब्राह्मण संसारको तार सकनेमें समर्थ हैं ? इस प्रश्नका उत्तर बहुत उत्तम ढंगसे दिया गया है । भागवतके समयमें जैसा उत्तर देना चाहिये था, वैसा ही वह उत्तर है । उत्तर धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे है । आजकल धर्म-निरपेक्ष राज्यके—स्वशासनके होनेपर धर्मकी आवश्यकता नहीं रही अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकी अपेक्षा नहीं रही, यह बात नहीं है । प्रत्युत इस भौतिक युगमें नये पचमेल प्रजातन्त्रके युगमें धर्म और आध्यात्मिक दृष्टिकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी है ।

इस समय उन ब्राह्मणोंकी संख्या, जो जातिमात्रोपजीवी हैं, लगभग ढाई करोड़ होगी । इनमें अपने परम्परागत नियत कर्मको सँभालनेवाले भी ब्राह्मण सैकड़ों होंगे और हैं भी; किंतु इनकी संख्या नगण्य ही समझिये ।

इनमें कई भेद हैं—

१–आचारमें बद्ध किंतु विचारमें स्वतन्त्र ।
२–आचारमें स्वतन्त्र किंतु विचारमें बद्ध ।
३–आचार-विचार—दोनोंमें पूर्ण स्वतन्त्र ।
४–आचार-विचारमें एक (संख्या नगण्य) ।

इसी प्रकार—

शहरी ब्राह्मण, ग्रामके ब्राह्मण, पुरानी परम्पराके ब्राह्मण, नयी शिक्षा प्राप्त साहेबी ठाटके ब्राह्मण और निर्वाह-साधनमें अन्य जातिके पेशोंको अपनानेवाले ब्राह्मण । इस प्रकारके भेद करते जायँ तो पचासों भेद जान पड़ेंगे—किंतु किसी प्रकारका भी ब्राह्मण क्यों न हो, अपनी वर्तमान दशामें किसीको भी संतुष्ट न पाइयेगा ।

'ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः'

'ब्राह्मण निर्भय हों' यों कहकर ब्राह्मणोंके सिरपर

रक्षाका हाथ रखकर आश्वासन देनेवाला क्षत्रिय राजा अथवा कोई शासन भी तो दिखलायी नहीं पड़ रहा है। ऐसी दशामें ब्राह्मण ही क्या अन्य लोग भी केवल क्षीणसंस्कारावशेष, स्वधर्म-कर्मविहीन हो गये तो आश्चर्य ही क्या है?

इनमेंसे असंतोष, असमाधान और हीनताके कारण कुछ तो स्वाधीन हैं और कुछ पराधीन हैं। स्वाधीन कारणोंकी खोज करके उनको सर्वथा निर्मूल करनेका दृढ़ प्रयत्न न किया जायगा तो हीनता चली ही जायगी। सहस्रों वर्षोंकी परतन्त्रताके युगमें जिस जातिने निरपेक्ष भावसे, अपने परम्परागत नियत स्वधर्मका पालन किया-कराया, भारतीय धर्म और भारतीयोंका मार्गदर्शन किया, वही जाति आज किसी प्रकार श्वास-प्रश्वास लेकर नाममात्र जीवित है। जब मुख्य अथवा मुखरूप ब्राह्मणोंकी यह दशा है तो अन्योंकी क्या दशा होगी।

तब	अब
१—परम्परागत नियत धर्मका पालन करते थे।	१—परम्परा प्रलुप्त होती जा रही है।
२—प्राच्यविद्या और उसके लिये तप तपते थे और जीवन खपा देते थे।	२—पाश्चात्त्य विद्यामें रम रहे हैं, उसीमें खप रहे हैं। उसीका प्रचार-प्रसार करते रहते हैं।
३—केवल कर्तव्यबुद्धिसे विद्याध्ययन-अध्यापन, ज्ञानप्रसारण चलता था।	३—उदरदरी-पूरणार्थ ही सब कुछ हो रहा है।
४—निःस्वार्थ भाव प्रबल था।	४—स्वार्थ अत्यन्त प्रबल हो रहा है।
५—'वसुधैव कुटुम्बकम्' यह वृत्ति रहती थी।	५—'स्वगृहमेव स्वकुटुम्बकम्' वृत्ति चल पड़ी है।

इस प्रकार सिरपर स्वधर्मी शासन न रहनेके कारण हो, समयका फेर हो अथवा हम ही स्वयं अपने पतनके कारण बन गये हों, है अवश्य चिन्ताजनक दशा—यह बात माननी ही पड़ेगी और यह भी मानना पड़ेगा कि जबतक ब्राह्मण अपने-आपको नहीं सँभालते, फिर निःस्वार्थ होकर अपना काम नहीं करते, तबतक भारतके अथवा संसारके असंतोषको मिटानेकी शक्ति किसीमें नहीं है।

इन्हींको उठना पड़ेगा। यह आवश्यक नहीं कि सब-केसब ढाई करोड़ ब्राह्मण ऐसे बनें—हम चाहें तब भी बन कहाँ सकते हैं—असम्भवप्राय है। तथापि इनमें स्वाभाविक संस्कार तो है ही और उनका परिपोष हो जाय और सौ-पचास ब्राह्मण भी त्याग-तपस्यापूर्वक खड़े हो जायँ तो कायापलट हो सकती है। आजकल सर्वत्र जीवन-निर्वाहके लिये कोलाहल मचा हुआ है। ब्राह्मण भी इस कोलाहलमें बुद्धिभ्रष्ट और पथभ्रष्ट हो रहा है। सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना प्रत्येक जाति अथवा व्यक्तिका कर्तव्य है; किंतु सुखके साथ यदि संतोषवृत्ति—समाधानवृत्ति न आयी तो असली सुख इन्द्रको भी नहीं मिलनेवाला है। ब्राह्मणजाति इस बातको जब समझकर चलने लगेगी, वही भारतके लिये कल्याणका दिन होगा।

सरल जीवन और उच्च विचार

यह जो अनन्तकालसे ब्राह्मणोंका ध्येय रहा है—जो भारतीयोंका एक अनुत्तम (अत्यन्त उज्ज्वल) जीवनसूत्र रहा है, उसको आज बेकार और दरिद्रताका चिह्न समझा जा रहा है। उस उच्च जीवनसूत्रकी सर्वत्र खिल्ली उड़ायी जा रही है—यदि आज भी ब्राह्मण-जातिके धुरीण आहिताग्निकी अग्निकी तरह अपने जीवनसूत्रको सँभालकर चलेंगे, किसी प्रतिफलकी भावनाके बिना निःस्वार्थ भावसे ज्ञानसत्र चलाते रहेंगे, तभी कल्याण है। यदि ब्राह्मण इस कार्यको नहीं करेंगे, नहीं सँभालेंगे तो जो कोई भी इस कार्यको करेंगे, सँभालेंगे, भारत उनके पीछे ही चलेगा; किंतु ब्राह्मणोंको इसलिये विशेषकर आह्वान है कि यह जाति अभी सर्वथा अपने संस्कारोंसे शून्य नहीं हुई है। अब भी इसने संस्कृत विद्या, वेद, उपनिषद्, दर्शन-संस्कृति आदि प्राच्य विद्याको किसी प्रकार सँभाल रक्खा है। थोड़ा सावधान होकर चलनेकी आवश्यकता है—इस धर्मनिरपेक्ष राज्य-प्रणालीमें धर्मको, प्राचीन विद्याओंको, तपस्वी, त्यागी, धर्मनिष्ठ, उच्च जीवनसूत्रको सँभालनेवाले ब्राह्मण ही सँभाल सकते हैं।

करुणा

(लेखक—श्रीव्रजकुमारजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

लोगोंने जाने क्यों मुझे कहानीकार समझ रक्खा है। शायद वे गलतीपर हैं, शायद मैं ही गलतीपर हूँ। पर जब विद्यालयकी पत्रिकाके लिये मुझसे कुछ लिखनेको कहा गया तो मैं लेखक होनेका गौरव प्राप्त करनेका लोभ संवरण न हो सका, और मैंने 'हाँ' कर दी। विद्यालयसे घरकी ओर आते समय न जाने कौन-कौन विचार मनमें उठे और मस्तिष्कमें न जाने कितने कथानक आये—सुन्दर और मनोरम; परंतु जब अध्ययन-कक्षमें बैठ लेखनी उठायी तो सभी कुछ गायब, मस्तिष्क शून्य। बड़ी देरतक बैठा रहा। दो-चार पग लेखनी चली भी, पर अड़ियल टट्टूकी तरह—चली और रुक गयी। उन काले टेढ़े-मेढ़े अक्षरोंको पढ़ा, संतोषजनक न होनेपर काट दिया और फिर कागजको फाड़कर मेजके नीचे रक्खी टोकरीमें डाल दिया। लेखनी रख दी। एक अँगड़ाई ली। कुर्सीसे पीठ टेक आँख बंदकर पड़ गया। कुछ मिनटों बाद आँखें खोलीं। पासकी आलमारीसे एक पुस्तक उठायी। व्यर्थमें पृष्ठ इधर-उधर किये। एक स्थानपर दृष्टि ठहर गयी। लिखा था—'कहानी हर जगह मिल सकती है, देखनेवाली आँखें चाहिये। तुम्हारा और दूसरोंका जीवन, कहानी ही तो है। तुम्हारे चारों ओर कहानीकी इतनी अधिक सामग्री है कि यदि कोई जीवनभर कलम घिसता रहे तो भी कहानियोंकी कमी न होगी।' मैंने पुस्तक बंद कर अपने चारों ओर निहारा, कहानी न मिली। नेत्र बंद कर अंदर देखा, वहाँ भी वह न थी। फिर भी मुझे उस विद्वान् लेखकके कथनमें शङ्का करनेका साहस न हुआ। मेरे जीवनमें घटनाएँ अवश्य घटी हैं, जिनसे कहानी बन सकती है—कहानी क्या, उपन्यासके पृष्ठ रँगे जा सकते हैं; पर मेरे पास सम्भवतः वह सब लिखनेकी प्रतिभा न हो, व्यक्त करनेकी कलाका अभाव हो। मैंने सोचा—'चलो किसीसे सहायता ली जाय।' हाथमें छड़ी ली, कमरा बंद किया और पूर्णिमाकी ज्योत्स्नासे स्नान करती हुई पृथ्वीपर चल दिया—चलता गया, चलता गया।

नहरके किनारे एक मन्दिर था—पुरातन, खँडहर, भग्नावशेष। वहीं मैं ठहर गया। एक साधु आगके पास बैठा था और पास ही पुआलपर कम्बल ओढ़े कोई सो रहा था। मैंने साधुके समीप जा प्रणाम किया। उसने आशीर्वाद दिया। मैं आगके निकट बैठ गया। साधु बोला—'बच्चा! ऐसी ठंडमें कहाँ?' मेरे मुखसे अनायास निकल गया—'महाराज! आज मैं एक विपत्तिमें हूँ। कुछ सहायता कीजियेगा?' परंतु शीघ्र ही अपनी हास्यास्पद स्थितिका विचार आते ही मैं सोचमें पड़ गया कि अब साधुको किस विपत्तिका परिचय दूँगा। साधु बोला—'बच्चा, कहो! जो हो सकेगा, करूँगा।' मैंने सोचा, साधुसे कैसा दुराव, उसके लिये सब कुछ एक-सा। अतः ग्लानिको एक ओर रख मैंने कहा—'महात्मन्! मुझे एक कहानी लिखनी है—आवश्यक, अनिवार्यतः, पर कुछ समझमें नहीं आता क्या लिखूँ? क्या आप कोई कहानी बता सकेंगे?' साधु हँसा, फिर गम्भीर हो गया। कुछ क्षणोंके मौनको भङ्ग करते हुए उसने कहा—'बच्चा! जीवन ही एक कहानी है। किसीके जीवनकी घटनाएँ एकत्रकर एक सूत्रमें पिरो डालो, कहानी बन जायगी।' मैं विचार करने लगा कि 'इस साधुके और उस लेखकके कथनोंका आशय तो एक ही है। तो—क्या कहानी लिखना इतना सरल है जितना ये कहते हैं? क्या सभी कोई कहानी लिख सकते हैं? तो फिर मैं क्यों

नहीं लिख पाता ? क्या मेरा साहित्यका विद्यार्थी होना व्यर्थ है ? क्या मैं प्रातः विद्यालयमें कह दूँ कि मैं कहानी न लिख सकूँगा ?'···मुझे उधेड़-बुनमें देख साधु बोला—'क्या सोच रहे हो ? क्या कोई कहानी नहीं मिली ?' मेरा सिर हिल गया। उसने कहा—'अच्छा, तो सुनो, जीवनकी कहानी। लिख सकना, तो लिखना।'

× × ×

'मैं बालक था। विद्यालयमें पढ़ता था। आशा और अभिलाषासे मेरा परिचय कब हुआ मैं कह नहीं सकता; पर वे दोनों मेरे साथ रहती थीं और मेरी उनसे प्रगाढ़ घनिष्ठता थी। कहीं भी मैं जाऊँ वे मेरा साथ न छोड़ती थीं, मैं भी उन्हें छोड़ना न चाहता था।

'एक बार जब संध्या जगतीके प्राङ्गणमें दीपक जलाकर जा चुकी थी, रात्रि नक्षत्रोंका नूपुर बाँधे नभकी रङ्गस्थलीमें नृत्य कर रही थी, मैं भावीके चित्रोंमें भावुकताके रङ्ग भर रहा था और अभिलाषा तथा आशा दोनों मेरे पार्श्वोंमें बैठी निर्देश कर रही थीं। किसीने द्वार खटखटाया। मैंने जाकर द्वार खोले। सम्मुख थी भीनी-भीनी सुगन्धसे युक्त, इन्द्रधनुषी-परिधानमें परिवेष्टित, आलोकमयी दीपराशि-सी, सौन्दर्यमें अनुपम, ग्रीष्म-रात्रिके स्वप्न-सी मधुर, बलात् मनको मोह लेनेवाली, मोहक, चञ्चल। मैं उसे देखता रह गया, जैसे उसके रूपको आँखोंसे पी जाऊँगा।

'मैं हूँ कल्पना' मधुकरीका-सा मधुर गुञ्जन मेरे कर्ण-कुहरोंको पारकर हृदय-काननमें गूँज गया। मेरी चेतना लौटी। मैंने कहा 'आओ'। अधरोंपर अस्फुट मुसकान लिये उसने प्रवेश किया। आते ही अभिलाषा और आशा विहँस पड़ीं, उनका सौन्दर्य और भी निखर उठा, वे और भी मोहक हो गयीं।

'मैं युवा हुआ। विद्यालयको छोड़ जीवन-पथपर चल पड़ा। कल्पना, आशा और अभिलाषा मेरे साथ थीं। पथका श्रम मालूम न होने देती थीं। राहमें मिल गये एक दिवस दो व्यक्ति—बड़े कोमल छुईमुईसे भी अधिक, बड़े अहंकारी चक्रवर्ती सम्राटोंसे भी अधिक, प्रशस्त भाल ऊँचा किये जैसे कभी झुकायेंगे ही नहीं। ये थे 'मान' और 'ऐश्वर्य'। मेरे अनुचर बन गये वे। अब मैं भी सिर ऊँचाकर चलता।

'हम आगे बढ़े। कुछ दिनों बाद मार्गमें मिल गये प्रेम और विश्वास—गौरवर्णी, स्वस्थ शरीर, शिशु-सा सरल स्वभाव, मिष्ठभाषी और विनम्र।

'हम और आगे बढ़े। पथ काफी था। आगे थी सरिता, जिसमें थीं भयंकर भँवरें और नाना भाँतिके भयानक जन्तु, काल-से कराल, मुँह बाये। पर, उस ओर एक अस्पष्ट छाया-सी मुझे संकेतद्वारा बुला रही थी। यह छाया थी देवी सफलताकी। मुझे वरण करना था उसका, अतः पार जाना ही था।

'एक किनारे थी एक नाव छोटी और जहाँ-तहाँ टूटी-फूटी, पतवार भी कमजोर। मैं हिचक रहा था उसपर चढ़ते। परंतु कल्पनाने उस ओरके वैभव और विजयके प्रलोभन देने आरम्भ किये; मान और ऐश्वर्य रूठे, तने, मुँह फुलाये एक ओर खड़े हो गये; प्रेम और विश्वासने भी हठ पकड़ा; आशा और अभिलाषा जाने कहाँसे 'साहस' और 'उत्साह'—दो नाविकोंको पकड़ लायीं। मैं बाध्य हो गया। नावपर चढ़ना ही पड़ा। सभी बैठे। नाव चली डगमगाती।

'सहसा आकाशमें बादलोंकी घुड़दौड़ मच गयी। भास्कर भागकर न जाने कहाँ लुप्त हो गये। घटाटोप अन्धकार छा गया। बिजली कड़क-कड़ककर आँखें दिखाती, जिसे देख पृथ्वी डरसे काँप-काँप उठती। पवन वृक्षोंको झकझोरता न जाने कहाँ दौड़ा भागा जा रहा था। सरिताका जल भी स्थिर न रह सका। माझियोंकी पतवार छूट गयी। नाव पहले ही डगमग-डगमग तैर रही थी, अब उत्ताल तरङ्गोंपर उठने-गिरने लगी—अब

डूबी, अब डूबी। मैं भयभीत हो गया। मैंने नेत्र बंद कर लिये और गदेलियोंसे कान भी।

'जब आँख खुली—

'मैं बालुका-राशिपर पड़ा था। अङ्ग-अङ्गमें पीड़ा थी। मैंने करवट ली। पड़े-पड़े चारों ओर निहारा। तूफान थम चुका था, पर न वहाँ नाव थी और न थे नाविक। पासके वृक्षोंसे कृष्णपक्षका चन्द्रमा वक्र हँसी हँस रहा था।

'मैं उठा। साथियोंकी खोज की। पर 'मान' और 'ऐश्वर्य' मिट्टीमें मिल चुके थे, 'अभिलाषा' और 'आशा' धारमें बह गयी थीं, 'कल्पना' तो उस वास्तविक झंझामें ही उड़ गयी थी, 'प्रेम' और 'विश्वास' का अस्तित्व ही लुप्त था। रह गया था मैं अकेला—नितान्त अकेला।

'अकेला ही चल पड़ा उस देवीकी खोजमें जो मुझे पार आनेका संकेत कर रही थी। मार्गमें थे कंकड़ और थे काँटे। चलते-चलते वस्त्र उलझ जाते, वे तार-तार हो गये। पगोंमें छाले पड़े, फटे और घाव हो गये। अङ्ग-अङ्गसे रक्त टपकने लगा। पर 'सफलता' न मिली, न दिखायी ही दी। मैं निराश हो बैठ गया। आगे चलना अब मेरे लिये सम्भव भी न था।

'सहसा मुझे 'तप' के बलका स्मरण हुआ। मैंने उसीसे सफलताको खींच लानेका निश्चय किया। तप आरम्भ कर दिया मैंने।

'एक रात्रि—जब दिनके परिश्रमसे त्रस्त पवन विश्राम कर रहा था और दिशाएँ अन्धकारके दुर्भेद्य दुर्गमें बंदी थीं, मुझे सफलताकी देवी साकार होती दिखायी दी। मेरा जीवन सार्थक होने जा रहा था, मेरा तप सफल होनेको था। मैं बाहु फैलाये आगे बढ़ा—देवीको पानेके लिये, अपने अङ्कमें भर लेनेके लिये। पर देवी हँस पड़ी—भीषण अट्टहास, कर्कश, आकर्षणहीन, घृणोत्पादक। सृष्टि सिहर उठी, पवन चौंक पड़ा।

'देवी बोलीं—मूर्ख युवक! तुम मुझे पानेकी इच्छा रखते हो? जानते नहीं तुम्हारा जीवन इस विश्वमें केवल तड़पनेके लिये हुआ है? जाओ, चले जाओ! मुझे पानेके लिये प्रयास करो। कर्म करो और अन्तर्धान हो गयीं।

'फिर वही अन्धकार—मेरे मनमें उससे भी घोर निराशाका अन्धकार, रात्रिभर किंकर्तव्यविमूढ़ बैठा रहा। प्रातः सामने वही था जीवनका अछोर पथ।

'स्मरण हो आयी मुझे मृत्युकी उदारता, उसका शीतल शरणदायक स्वभाव। मैंने उसे ही प्राप्त करनेकी आराधना-उपासना आरम्भ कर दी।

'सृष्टिकी संहारिका सम्मुख आयीं। हिमकी भाँति शीतल और श्वेत; सुन्दर—नक्षत्र-लोककी रानी-सी, पर वज्र-सी कठोर; अङ्ग-अङ्ग कलापूर्ण—काली बड़ी-बड़ी आम्रफाँक-सी आँखें, काली सुरचाप-सी भौंहें और काले सचर केशजाल।

'मृत्युने कुछ कहा, पर मैं सुन न सका, उसके रूपको देखकर मैं संज्ञाविहीन हो गया था। मृत्युने फिर पूछा—'मौन क्यों हो? क्या चाहते हो, युवक?' मैं चौंक उठा, नयनोंसे अश्रुका स्रोत फूट चला, कण्ठ भर आया, किसी प्रकार बोला—'देवी! मैं…मैं समाजसे प्रताड़ित, अभिलाषा और आशासे उपेक्षित, प्रेम और विश्वाससे त्यक्त आपकी शरण आया हूँ' और मैं गिर पड़ा चरणोंपर। पर मृत्यु दूर हट गयीं। व्यङ्ग और घृणासे मुसकराते हुए बोलीं—'मत स्पर्श करो मेरा। तुम-जैसे 'कापुरुषको यहाँ स्थान नहीं। विपत्तियों और जलनके भयसे जो जीवनके कर्त्तव्य-क्षेत्रसे विमुख हो भागता है, उसे मैं शरण नहीं देती। उसके स्पर्शसे मैं कलङ्कित होती हूँ, अपवित्र होती हूँ। मैं उसे ही'

अङ्गीकार करती हूँ जो वीर है, साहसी है, जो विपद् और कष्टके गालपर थप्पड़ मार सकता है और उनका डटकर सामना करता है, जो कभी हार नहीं मानता। जाओ युवक, योग्य बनो।'

'वह चली गयीं। मैं रोने लगा। अश्रुओंमें प्लावन आ गया। रोते-रोते आँखें लाल हो गयीं, सूज आयीं, सम्भवतः मैं अंधा हो गया। घाव पक गये, सड़ने लगे।

'कुछ समयोपरान्त एक दिन—

'मुझे किसी कोमल करका स्पर्श मिला। उस स्पर्शमें शीतलता थी, शान्ति थी, स्नेह था; वात्सल्य था, ममता थी, मृदुता थी। मैं विलख पड़ा। रुकी हुई आँसुओंकी धारमें फिर प्रवाह आ गया। ऐसा चाहने लगा कि इस स्पर्शप्रदाताके चरणोंपर अपने अश्रुकोषको रिक्त कर दूँ। पर उसने अपने अञ्चलसे मेरे नेत्रोंको पोंछते हुए कहा—'मानव! मत रो। अपने इन अमूल्य रत्नोंके भण्डारको व्यर्थ मत खाली कर। इन अश्रुओंसे अपने हृदयको सींच, उसे कोमल बना।'

'मैंने पूछा—'देवी! तू कौन है? तेरी मिश्री-मिश्रित मधुर वाणी मेरी पीड़ाको शान्त कर रही है, जलनको शीतलता प्रदान कर रही है। तेरा स्पर्श मेरे अन्तरकी व्यथाको नष्ट कर रहा है। अमृत वर्षा करनेवाली तू कौन है?'

'मानव! मैं 'करुणा' हूँ।' उसी मधुर कण्ठसे शब्द निकले।

'करुणाने मेरे लिये कुटिया तैयार की। वह मेरे साथ रहने लगी। वह मेरे घावोंको धोती, उनकी परिचर्या करती, मुझे स्नान कराती, मेरे वस्त्र साफ करती, मेरे नेत्रोंपर ओषधि लेप करती और अवकाशमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का गीत सुनाती।

'शनैः-शनैः मैं स्वस्थ होने लगा। मेरे घाव पूर गये, नेत्र खुल गये, उनमें ज्योति आ गयी, एक नवीन ज्योति। संसार मुझे परिवर्तित दीख पड़ने लगा; सब कुछ वैसा ही था, फिर भी कुछ परिवर्तित-जैसा। स्मरण हो आया करुणा-का, पर वह कहीं दिखायी ही न पड़ी। कुछ देर प्रतीक्षा की, पर फिर धैर्य छूट गया। इतने दिनों बाद अपनी जीवनदात्रीके दर्शन करनेका अवसर पाया था, विलम्ब सहन न कर सका। मैंने पुकारा—'करुणा! देवी करुणा!!'

'मेरे अन्तरसे ध्वनि आयी—'मैं यहाँ हूँ।'

'करुणा मेरे अन्तरमें समा गयी थी। वहाँ उसने स्नेहका दीपक जलाकर प्रकाश किया और युग-युगसे सोयी पड़ी अहिंसा, दया, क्षमा आदिको 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का गीत गा-गाकर जगाया।

'आज मुझमें और करुणामें कोई अन्तर नहीं। मैं करुणाके अङ्कमें हूँ और करुणा मेरे अन्तरमें।'

सीताराम रट रे

(प्रेषक—महात्मा जय गौरीशंकर सीतारामजी)

रुचिर विचार सदाचार शील-जीवन हो,
व्यभिचार के न कभी जाना तू निकट रे ॥ १ ॥
छोड़ दे कुवाद मुख मोड़ ले प्रमाद से भी,
वेद मरयाद को न उलट पलट रे ॥ २ ॥
संग साधुओंका और प्रसंग भगवान का हो,
तुच्छ वासनाओं से नितान्त दूर हट रे ॥ ३ ॥
त्याग के कपट झटपट अनुराग युक्त,
सीताराम सीताराम सीताराम रट रे ॥ ४ ॥

मृत्युके लिये सदैव तैयार रहना सुखी रहनेका सर्वोत्तम साधन है

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०)

जो व्यक्ति यह समझता है कि मुझे सदा ही इस संसारमें निवास करना है, वह अनेक प्रकारके अनावश्यक प्रपञ्चों, कृत्रिम आवश्यकताओं और व्यर्थके ऋणोंके भारसे आक्रान्त रहता है। स्थायित्वके साथ मनुष्यकी निम्न वासनाएँ दूसरेपर छा जाना चाहती हैं। बड़े-बड़े राजा, महाराजा, शासक, अमीर, रईस, पूँजीपति सदा यह समझते रहते हैं कि उन्हें स्थायीरूपसे संसारमें निवास करना है। वे बड़े-बड़े आलीशान महल, अट्टालिकाएँ, आमोद-प्रमोदकी वस्तुएँ, मनोरंजनके साधन एकत्रित करते हैं; अधिक धन-संग्रह करनेके हेतु वे प्रजापर अनावश्यक बोझ डालते हैं, जमींदार कृषकोंका शोषण करते हैं, व्यापारी ग्राहककी जेब काटनेको प्रस्तुत रहते हैं। वास्तवमें, जगत्में सदा-सर्वदा स्थायीरूपसे रहनेकी भावना अनाचार और अत्याचारकी मूल है। जो अपनेको जितना स्थायी समझता है, वह उतना ही अधिक आनन्द, मस्ती, शोषण कर लेना चाहता है। कितने ही व्यक्ति अनावश्यकरूपमें अपना अभाव बढ़ाते जाते हैं, क्योंकि उन्हें अपने उत्तरदायित्वका बोध नहीं होता।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि जीवमात्रके लिये मृत्यु एक सहज सत्य है। प्रत्येक जन्मके साथ मृत्युका क्रम है। जो जन्मा है उसका मृत्युको प्राप्त होना अवश्यम्भावी है। जन्मके दिनसे ही हम धीरे-धीरे मृत्युकी ओर खिंचते चले जाते हैं। प्रत्येक क्षण हमें मृत्युके समीप लाता है।

और यह मालूम नहीं कि किस दिन मृत्युकी कुटिल काली मूर्ति प्रकट हो जाय। किस दिन संसारसे चलनेकी तैयारी हो जाय। छोटे-छोटे बच्चोंसे लेकर भरे यौवनमें हँसते-खेलते जवान क्षणभरमें मृत्युके ग्रास हो जाते हैं। तनिक-से कारणसे मृत्यु हो सकती है; दुर्घटनाएँ वृद्धिपर हैं, नयी-नयी बीमारियाँ देखनेमें आ रही हैं। कलकी खैर नहीं, परसोंकी कौन कहे। वास्तवमें मानव-जीवन एक बुलबुलेके समान है, जो क्षणभरमें नष्ट हो सकता है।

सबसे अच्छी मनःस्थिति उस व्यक्तिकी होती है जो मृत्युके लिये अर्थात् संसारसे बिना रंजोगम, बिना मोहचक्र या अनावश्यक क्षोभके जानेको तैयार रहता है। जिसे जितना अधिक माया-मोह संसारके कृत्रिम वस्तुओंपर रहता है, वह उतना ही अधिक दुखी, अतृप्त रहता है। प्रत्येक मोह या लगाव एक जंजीर है, जो आपको संसारसे जकड़े हुए है। यदि आप संसारके पदार्थोंको काममें लेते हुए भी तटस्थ रहें, जब समय आये, उनका परित्याग करनेको प्रस्तुत रहें, तो आप सुखी-संतुष्ट रहेंगे। मोहका लगाव आपको विक्षुब्ध न कर सकेगा।

मेरी रायमें मृत्युके लिये सदैव तैयार रहना अर्थात् जगत्के झूठे लगाव और मोहके बन्धनसे मुक्त रहना, आनन्दित रहनेका सर्वोत्तम साधन है।

जब आप यात्रा करते हैं, तो आपसे कहा जाता है कि कम सामान लेकर यात्रा कीजिये (Travel light)। जिस यात्रीके पास अधिक सामान रहता है, वह अपनी छोटी-बड़ी पोटलियों, संदूक, बिस्तर और थैलोंको सम्हालनेमें सदैव चिन्तित रहता है। उसके पास जितने बंडल होते हैं, उसे उतना ही बन्धन होता है, वह उतना ही चिन्तित, व्यग्र और क्षुब्ध रहता है। कहीं कोई गठरी छूट न जाय? कहीं कोई व्यक्ति चुरा न ले? कहीं कोई ताला न टूट जाय? ऐसी असंख्य छोटी-बड़ी दुश्चिन्ताएँ मनमें अशान्ति रखती हैं।

इसके विपरीत जो व्यक्ति कम-से-कम सामान लेकर यात्रा करता है, वह सहज रूपमें अपने सामानकी देख-रेख कर लेता है। उसे अपेक्षाकृत चिन्ता भी कम होती है। कठिन अवसरोंपर वह इसे सरलतासे सम्हाल लेता है; मौका पड़नेपर उसे हाथमें स्वयं उठा लेता है। चूँकि उसपर भार कम है, उसे यात्रामें अनावश्यक बोझ प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रकार जीवन-यात्रामें उठाने योग्य थोड़ा-सा सामान साथ लेकर चलनेवाला यात्री सुखी रहता है। जो अनावश्यक आवश्यकताएँ, व्यर्थका दिखावा, फैशन-परस्ती, वासनाके मोहजाल या ममत्वके बड़े परिवारमें लिप्त रहता है, सांसारिक वस्तुओंके निरन्तर संग्रहसे अपना भार बढ़ा लेता है, वह दुखी और अतृप्त बना रहता है।

स्मरण रखिये—मृत्यु आपके सिरपर खड़ी है। अनावश्यक मोह-बन्धन आखिरी घड़ीमें मानसिक कष्ट प्रदान करनेवाले हैं। अपने ऊपर परिवारका अधिक बोझ मत लीजिये। यदि सम्भव हो, तो अपने परिवार-के एक सदस्यको ऐसा अवश्य रखिये जो आपकी अनुपस्थितिमें घर-परिवारका भार सहज ही सम्हाल ले। और कोई न हो, तो पत्नीमें ही इस भारको वहन करनेकी सामर्थ्य उत्पन्न कीजिये। आपकी स्थिति ऐसी हो कि मौतका बुलावा आते ही आप बिना किसी रुकावट, मोह, उत्तरदायित्वके तुरंत प्रस्थान कर सकें।

मृत्युके लिये सदैव तैयार रहना ही निर्बाध सुखी रहनेका साधन है।

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'तू बनाकर भी व्यर्थ करता है। अपने ही निर्माणको कुचल देनेमें तुझे आनन्द आता है?' वह कभी फूट-फूटकर रोता है और कभी 'हा, हा' करके हँसता है। कोई नहीं जानता कि वह कौन है। पता नहीं कैसे वह यहाँ आया। गाँवके लोग जब एक सबेरे सोकर उठे, उन्होंने देखा कि उनके गाँवकी गलियोंमें कहींसे एक नया व्यक्ति आ गया है। गौर वर्ण, लंबी आँखें, ऊँची-नुकीली नासिका, उन्नत ललाट, इकहरा शरीर—सम्भवतः किसी उच्चकुलका है, सम्भवतः सुपठित है। सम्भवतः इसलिये कि केवल अनुमान ही किया जा सकता है। उसके वस्त्र फटे और मैले होकर भी बताते हैं, वे कभी स्वच्छ थे, सुन्दर थे, मूल्यवान् थे। उसके केश उलझे होकर भी कहते हैं, वे कभी सुलझे और सुसज्जित थे, सुगन्धित तैलसे सिंचित होते थे। उसकी भावभङ्गिमा, उसकी चाल-ढाल उसकी दृष्टि कहती है, वह कभी सम्मान पाता था, सत्कृत होता था। लेकिन वह कुछ बोलता नहीं किसीसे। कुछ पूछनेपर प्रश्न-कर्ताके मुखकी ओर घूरने लगता है और फिर या तो ठहाका मारकर हँसने लगता है, या फूट-फूटकर रोने लगता है। बेचारा पागल है।

गाँवके दयालु लोग—वे लोग उसे स्नेहपूर्वक रूखी-सूखी रोटियाँ खिला देते हैं। उसे यदा-कदा एकाध वस्त्र मिल जाते हैं। जाड़ेके दिन हैं। रात्रिमें वह किसी-न-किसी अलावके पास ढुलक पड़ता है।

बड़ा रमणीक गाँव है। नहरका पानी सींचता है यहाँ-के खेतोंको और खेतोंमें गेहूँ-चना नहीं होता। यहाँके खेत तो खेत नहीं, बगीचे हैं। जहाँतक दृष्टि जाय पाटलके पौधे लहरा रहे हैं। गुलाबकी खेती होती है यहाँ! इत्र बननेके लिये यहाँसे गुलाबके फूल अन्यत्र जाते हैं। जब पुष्पका समय होता है—मीलोंतक खिले पाटल-पुष्पोंसे मण्डित धरित्री-की शोभा—जो यहाँ आया नहीं, वह यहाँके उस सौन्दर्यका अनुमान तक नहीं कर सकता।

मोगरा, चमेली और दूसरे पुष्पोंके भी पौधे जहाँ-तहाँ हैं। जल ही जगत्का जीवन है। जहाँ जलकी पर्याप्त सुविधा है, जीवन अपने अनेक रूपोंमें प्रस्फुटित, पल्लवित, प्रफुल्लित होगा ही। छोटे-छोटे उपवन हैं। सघन तरु हैं; किंतु यह

सब तो विनोद है, विलास है उस भूमिका, वहाँके निवासियोंका। वहाँका जीवन तो है पाटल और उसका साम्राज्य है वहाँ।

जाड़ेके दिन, कठोर शीत, सम्पूर्ण प्रकृति ही तो इस शिशिरमें ठिठुर जाती है। गुलाबके पौधोंमें कलियाँ तो आज-कल भी आती हैं; किंतु इस मीलों लंबी-चौड़ी हरीतिमामें अपनी सुरभि प्रसारित कर सके, अपने सौन्दर्यसे लोक-लोचनों-को आह्लाद दान दे पाये, अपने परागसे भ्रमरोंकी मूँछें पीताभ बनाकर मुसकरा सके—कदाचित् किसी एकाध कलिकाको ही यह सौभाग्य मिलता है। कोई ही कलिका पुष्प बन पाती है। कठोर शीत—बेचारी कलियोंका बाहरी पर्दा झुलस जाता है। उसकी पाटलद्युति कालिमासे कलुष हो जाती है। जैसे शीतके भयसे कलिका सिकुड़ी-ठिठुरी पड़ी रह जाती है और जब जीवन विकसित न हो पाये—सूख ही तो जायगा वह।

'देवता! तू देवता है न? इसे सार्थक कर दे तब।' उस पागलको एक ही सनक है, वह गुलाबकी सर्दीसे ठिठुरी-मुर्झायी ढेर-सी कलियाँ तोड़ लेता है और शङ्करजीकी पिण्डीपर चढ़ा आता है। तोड़ता है और चढ़ाता है, दिनमें कितनी बार? कोई संख्या नहीं। कोई क्रम नहीं। वह पागल जो ठहरा।

यह तो पाटलकी भूमि है। इस शिशिरमें भी प्रफुल्लित सौ-दो-सौ पुष्प यहाँ नहीं मिलेंगे, ऐसी तो कोई बात नहीं है। लेकिन वह पागल है न। उसकी दृष्टि जैसे पुष्पोंको देखती ही नहीं। वह तो कलियाँ तोड़ता है, चुन-चुनकर मुरझायी, सूखी-सी कलियाँ और फिर उन्हें देवतापर चढ़ा आता है।

'अपने ही निर्माणको कुचल देनेमें तुझे आनन्द आता है?' कभी-कभी वह किसी बड़ी-सी कलीको तोड़ लेता है। गुलाबी पँखुड़ियाँ शीतसे सूखकर पीताभ हो गयी होती हैं, कुछ कालिमा आ गयी होती है, कली अपने ही उस अवगुण्ठनमें दृढ़तासे आबद्ध हो गयी होती है और वह उसे इस प्रकार देखता है, जैसे कोई गूढ़ रहस्य ढूँढ़ता हो।

'सौन्दर्य, सौरभ, सौकुमार्यका यह निर्माण और फिर उसे आबद्ध करके व्यर्थ बना देना।' अनेक बार वह आकाश-की ओर बड़ी कठोर भङ्गीसे देखता है। अनेक बार अट्टहास करता है और अनेक बार फूट-फूटकर रोता है।

× × ×

बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं भगवतीप्रसादजीको अपने पुत्र जगदीशसे। जगदीश उनका एकमात्र पुत्र है। पिताका सम्पूर्ण स्नेह पाया है उसने। सृष्टिकर्ताका भी उसे स्नेह मिला है। सुन्दर सुगठित देह है, जन्मजात प्रतिभा है और सम्पन्न घर मिला है। अनेक बार उसे देखकर उसके पिता मन-ही-मन कह उठते हैं—

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।'

ब्राह्मणका यह पवित्र कुल और भगवतीप्रसादजीको तो भगवान् शङ्करकी भक्ति पैतृक सम्पत्तिके रूपमें प्राप्त हुई है। जगदीश शैशवमें ही मातृहीन हो गया यह ठीक है; किंतु पिताने उसे कभी माताके अभावका अनुभव नहीं होने दिया। पुत्रका लालन-पालन और शिक्षा—एक अच्छे सम्पन्न जमींदार-के एकमात्र पुत्रके उपयुक्त ही जगदीशको यह सब प्राप्त हुआ।

बचपनमें जब जगदीश भस्मका त्रिपुण्ड्र लगाकर भगवान् शङ्करको मस्तक झुकाता था, जल-पुष्पादि चढ़ाकर—उस गौर-सुन्दर शिशुकी शोभा देखने ही योग्य होती थी और अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके, ग्रेजुएट होकर भी वह वैसा ही आस्तिक, वैसा ही सुशील, वैसा ही विनम्र है। वह दोनों समय संध्या करता है, बड़ी-सी चोटी रखता है, भस्मका त्रिपुण्ड्र लगाता है। जमींदारका पुत्र होकर, उच्च शिक्षा पाकर भी ग्रामके गँवार गंदे लोगोंसे हिलमिल जानेमें, उनसे दादा, चाचा कहकर बात करनेमें, उनकी सेवा-सहायता करनेमें उसे कभी हिचक नहीं होती।

गाँवके लोग भगवतीप्रसादजीको देवता कहते हैं। उनकी कोठी गाँवके पीड़ितोंका, रोगियोंका आश्रय है। कोठीकी दरियाँ, बड़े बर्तन, गैस आदि सामग्री तो जैसे सार्वजनिक सामग्री है। किसीके यहाँ कथा-कीर्तन, ब्याह या दूसरा कोई उत्सव हो तो वह उन सामग्रियोंका बड़ी सरलतासे उपयोग करता है। लेकिन जगदीश भैया तो गाँवके लोगोंके आत्मीय हैं। अपने घरके हैं। वे कब किसके घर पहुँचकर बीमारकी खोज-खबर लेंगे। किसके दर्द करते मस्तकपर ओषधि मलेंगे, किसके रोते बालककी मुट्ठीमें पैसे धर देंगे—इसकी कहाँतक कोई गणना कर सकता है। वे तो दया, सहानुभूति, सेवा और आत्मीयताकी मूर्ति ही हैं।

जगदीश प्रतिभाशाली है। शिक्षाके समय वह कक्षामें सदा प्रथम रहा है। परीक्षामें विश्वविद्यालयमें प्रथम रहा है। सरकारने उसे पुरस्कृत किया है। पिता नहीं चाहते कि वह शिक्षाके लिये विदेश जाय और विदेश जानेकी उसकी अपनी

भी रुचि नहीं है। उसके घर कमी किस बातकी है कि वह नौकरी करेगा।

जगदीश महत्त्वाकाङ्क्षी है। उसकी महत्त्वाकाङ्क्षा उचित है। वह प्रतिभासम्पन्न है। कालेजके व्याख्यानोंमें वह सदा प्रशंसित होता रहा है। उसकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओंमें आदरपूर्वक छापी जाती हैं। वह यशस्वी होना चाहता है और कोई कारण नहीं कि उसे यश न मिले। विहार-प्रान्तकी एक सुप्रसिद्ध पत्रिकाके संचालकोंने उसे आमन्त्रित किया है पत्रिकाका सम्पादन करनेके लिये। पिताने अनुमति दे दी है। वह जायगा—परसों यात्रा करेगा। चला तो वह दस दिन पहले जाता; किंतु एक महाकाव्य लिखनेमें लगा था वह पिछले वर्षसे। उसके महाकाव्यके अनेक अंश पत्रिकामें छप चुके हैं। जिसने भी उसे सुना है, भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आज अपना महाकाव्य जगदीशने पूरा कर दिया है।

भगवतीप्रसादजीको अपने पुत्रसे बहुत आशाएँ हैं। उनका पुत्र यशस्वी होगा। उनके कुलका गौरव बढ़ायेगा। जगदीशको अपने महाकाव्यसे बहुत आशाएँ हैं। चार दिन बाद वह एक श्रेष्ठ पत्रिकाका सम्पादक होगा, उसका महाकाव्य छपेगा, उस महाकाव्यपर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक मिलेगा। जगदीश हिंदी-संसारमें सबसे कम अवस्थाका सबसे अधिक प्रख्यात पुरुष होगा।

भगवतीप्रसादजीकी आशाएँ, ग्रामके लोगोंकी आशाएँ, जगदीशकी आशाएँ—स्रष्टाने सबको सुयोग दिया; किंतु स्रष्टा सुयोग देकर सफल ही होने देगा, यह कहाँ निश्चित रहता है। बलिया सदासे बाढ़-पीड़ित क्षेत्र है और गङ्गाजीकी वह बाढ़—ऐसी भयंकर बाढ़की तो कोई कभी कल्पना ही नहीं कर सकता था। इस प्रकार अचानक बाढ़ आया करती है। कहते हैं—कहीं कोई पर्वत टूटकर गिर गया था। गङ्गाजीका या उनकी किसी सहायक धाराका—अब स्मरण नहीं, प्रवाह रुक गया था। जब धाराके वेगसे गिरे पर्वतका बाँध टूटा, किनारेके नगर एवं ग्रामोंमें प्रलय आ गयी।

कितने ग्राम बहे, कितने मनुष्य या पशु मरे, कितनी हानि हुई, यह कोई कैसे अनुमान करे। सरकारी कर्मचारी इधर-उधर दौड़-धूप कर रहे थे। जहाँ गाँव थे, समुद्रके समान वहाँ जल लहरा रहा था। उस प्रखर धारामें सर्वत्र एक बार घूम आना भी सरकारी नौकाओंके लिये शक्य नहीं था। जो गये, वे तो गये ही। जो बच गये थे, उनको बचाये रहनेकी चिन्ता कम बड़ी नहीं थी। स्थान, अन्न, वस्त्र, ओषधि—सहस्रों लोगोंके लिये दो-चार दिनोंमें इनका प्रबन्ध कर लेना क्या कुछ हँसी-खेल है।

भगवतीप्रसादजी, जगदीश, उनका ग्राम—सरकारी कागजोंमें यह लिख दिया गया है कि गङ्गाकी बाढ़ने उस किनारेके ग्रामको पूरा ही बहा दिया। अब तो वहाँ गङ्गाजीने अपना नवीन प्रवाह बना लिया है। क्या हुआ ग्रामका, ग्रामके लोगोंका, भगवतीप्रसादजीका, जगदीशका—कौन जानता है। उस बाढ़के प्रलय प्रवाहमें व्यक्तियोंकी खोज क्या रह सकती थी ?

× × ×

जगदीश उस बाढ़के प्रबल प्रवाहमें भी बच गया। प्रारब्ध प्रबल था, किसी झोपड़ीका बहता छप्पर हाथ आ गया था। बहुत दूर जाकर उसे मल्लाहोंने निकाल लिया। दुर्बलता, अनाहार, ज्वर, शोक—बेचारा जगदीश पागल हो गया। वह कहाँ-कहाँ किस प्रकार भटकता यहाँ पहुँचा है, यह उसे भी स्मरण नहीं है।

खूब बड़ा-सा सुन्दर सुरंग पुष्प खिला था। इस शिशिरमें इतना बड़ा, इतना सुरंग पुष्प—जगदीश कभी पुष्पोंकी ओर ध्यान नहीं देता, आज भी नहीं देता; किंतु इस लम्बे-चौड़े खेतमें वह एकाकी पुष्प और इतना बड़ा। गाँवमें आजकल नगरसे एक युवक आया है। लंबे, घुँघराले बालोंमें सुगन्धित तेल लगाये वह प्रायः घूमता रहता है। उसका वेश, उसके वस्त्र, उसकी चाल—कोई कवि होगा। पता नहीं क्यों पागल जगदीश जब उसे देखता है—घूर-घूरकर देखता ही रहता है और फिर ठठाकर हँसता है। वह युवक भी घूमने आया है। वह उस पुष्पके पास खड़ा है, बड़े स्नेहसे पुष्पको देख रहा है। बहुत सम्भव है कि उसका पुष्पको इस प्रकार देखना ही जगदीशकी दृष्टि पुष्पकी ओर खींच सका हो।

जगदीश उस युवकको देखता है और पुष्पको देखता है। वह आज कलियाँ तोड़ना भूल गया है। युवक पुष्पको देख रहा है। इधर खड़े होकर, उधर खड़े होकर, कुछ गुनगुनाकर वह पुष्पको देख रहा है। कितना सौन्दर्य-प्रेमी है यह। कितना स्नेह है इसका पुष्पसे। पागल जगदीश उसे चुपचाप देख रहा है।

युवकने अपनी सुकोमल पतली अँगुलीसे फूलकी टहनी हिला दी। पुष्प झूम उठा। युवक देखता रहा। अब उसने पुष्पकी पँखड़ियाँ धीरेसे स्पर्श कीं। दो क्षण और—और—और युवकने पुष्पको तोड़ लिया। तोड़कर नेत्रोंसे लगाया, कपोलोंपर फिराया और पुष्पको लिये चल पड़ा। चल पड़ा उसके पीछे-पीछे पागल जगदीश भी।

युवकने पुष्पको अपने कोटके जेबमें रक्खा, फिर निकाला, फिर रक्खा, बार-बार सूँघा, बार-बार घुमाया और यह क्या? वह पुष्पकी एक-एक पँखड़ी नोचता भूमिमें गिराता चला जा रहा है। अपने गुनगुनानेमें मस्त चला जा रहा है। पुष्पके प्रति उसका कुछ स्नेह भी था, यह जैसे उसे स्मरण भी नहीं। पागल जगदीश चीख पड़ा और भागा-भागा वह उलटे पैर और सीधे उस शङ्करजीकी पिण्डीके पास पहुँचा, जहाँ उसने आज सवेरेसे अञ्जलि भर-भरकर मुर्झायी कलियाँ चढ़ायी हैं।

'देवता! तू देवता है। तू ठीक करता है। ये कलियाँ धन्य हैं। ये सफल हैं। ये पुष्प बनतीं तो इन्हें भी कोई तोड़कर बिखेर देता। इनकी पँखड़ियाँ भी कोई पैरोंसे कुचल देता।' पागल जगदीशके नेत्रोंसे आँसूकी धाराएँ गिर रही हैं। वह अपने अश्रुसे भगवान् शङ्करका अभिषेक कर रहा है। 'जगत्‌का प्यार जिसपर प्रलुब्ध होता है, उसे कुचल देता है, नष्ट कर देता है। जगत् कृतघ्न है। वह जिसे चाहता है, उसे चूस लेता है।'

जगदीश एक-एक कलीको उठाता था, सिरसे लगाता था और फिर भगवान् शङ्करकी मूर्तिपर चढ़ा देता था। वह पागल है, उसके जो मनमें आती है, करता है। वह कहता जा रहा है—'लेकिन देवता! तब तू सौन्दर्य, सौरभ, सौकुमार्य देता क्यों है? अपने आपमें वह आबद्ध होकर कुचल उठे—उसमें घुटता रहे, ऐसा तू क्यों करता है?'

'इसलिये कि मैं अन्तरमें हूँ। अन्तरमें स्थित मुझे ही अर्पित होकर जीवन सार्थक होता है, अनन्त होता है, धन्य होता है।' जब कोई भी एकान्तनिष्ठासे विश्वके अधिदेवताको सम्बोधित करता है, वह पागल है या सचेत, इसका प्रश्न नहीं रह जाता; वह चिद्घन उसे अपने चैतन्यके अनन्त प्रवाहसे निश्चय ही आप्लुत कर देता है। उसे—उस सर्वव्यापीको कोई हृदयकी वाणीसे सम्बोधित करे और उत्तर न मिले, यह तो कभी हुआ नहीं, हो सकता भी नहीं। जगदीशका अन्तर्यामी आज उसके लिये जाग गया है। वैसे तो वह नित्य जागरूक है। लेकिन आज वह जगदीशको उत्तर देने लगा है।

'जो अपनी प्रतिभा, अपने सद्गुण, अपने ऐश्वर्यसे जगत्‌को तुष्ट करना चाहता है, वह बहिर्मुख होता है। जगत्से उसे दो क्षणका स्नेह, कृत्रिम-सुयश एवं सौहार्द मिलता है और वह नष्ट हो जाता है। जगत् उसे चूस लेता है, नष्ट कर देता है।' जगदीश आज अपने अन्तर्यामीकी दिव्य वाणी सुन रहा है 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसे अन्तर्मुख बनाता हूँ। उसे जगत्‌के प्रलुब्ध नेत्रोंसे बचाता हूँ। उसका सौरभ, उसके सद्गुण, उसके भाव अपने अन्तरमें स्थित मुझे समर्पित होते हैं। वह आनन्दमय हो जाता है। वह शाश्वत जीवनकी गोदमें अनन्त क्रीडा करता है।'

'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई।' पागल जगदीश—लेकिन उसका नाम यहाँ कोई नहीं जानता। यहाँ तो वह केवल पागल कहा जाता है। अब वह रोते नहीं देखा जाता। वह रामायणकी एक अर्धालीका आधा गुनगुनाया करता है और प्रायः हँसता रहता है। खूब खुलकर हँसता है वह।

'तुम क्या गाते हो?' कोई भी उस पागलसे चाहे जब पूछ ले, उसका एक ही उत्तर है—'अरे रोना धोना मत! घबराना भी मत! राम जो करते हैं, बड़ा अच्छा करते हैं। वे हम सबका सदा मङ्गल ही करते हैं, भला!'

गाँवके बाहर जो हनुमान्‌जीका मन्दिर है, उसपर एक संत आये थे। रमते राम संत आये और गये। उनका क्या कोई नाम, ग्राम जान पाता है? लेकिन वे कह गये—'यह पागल नहीं है। यह तो बहुत उच्च स्थितिका संत है।' गाँवके भोले लोग—वे अब पागल जगदीशकी यथासम्भव सेवा करते हैं। उसे महात्मा मानते हैं। वह महात्मा है? लेकिन वह महात्मा न हो तो महात्मा होगा कौन? एक युवक जो सम्पादक बनने जा रहा था, कवि बन चुका था—संत हो गया। बनानेवालेके हाथ समर्थ हैं, वह किसे कब क्या बना देगा—········।

ये महापुरुष और महात्मा ! भगवान् इनसे बचावें

एक पत्र मिला है । पत्र-लेखकने किसी महापुरुष-को, उनके संकीर्तन करते-करते बेहोश होकर गिर पड़ने, अश्रुपात होने आदिसे प्रभावित होकर अपना गुरु माना और उनके आदेशानुसार पढ़ना-लिखना छोड़कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया । पर पीछे उन 'महापुरुष'के चरित और आचरणोंको देख-सुनकर इनके हृदयपर बड़ा धक्का लगा और मनमें तर्क-वितर्कके साथ ही यह भय उत्पन्न हो गया कि कहीं इनसे गुरु-अपराध तो नहीं बन रहा है । पत्र-लेखकका कहना है—

"वे बड़े-बड़े लोगोंके यहाँ ठहरते,·······व्याख्यान आदि खूब झाड़ते ही थे और 'महापुरुष' कहकर अपनेको संकेत करते; बेचारे लोगोंकी भावना तो यही है कि ये साक्षात् श्रीचैतन्य महाप्रभुके अवतार हैं तथा मेरी भी यही भावना थी । परंतु जब मैं अत्यन्त निकटतम रहा, उनके दिन-रातके चरित्र मेरे दिमागमें भर गये । वेष-भूषा तो पूर्ण गृहस्थोंका-सा था ही, × × × विलासिताकी भी पराकाष्ठा । दिनमें सौ-सौ पान, तम्बाकू पीना तथा सुन्दर सात्त्विक नवसुकुमारियों-के सतीत्वको नष्ट करना, × × × × मैंने प्रत्यक्ष आँखोंसे देखा तब मैं उनका साथ छोड़कर भाग निकला × × × × । तीन मास बाद पत्रव्यवहार किया। वे···· एडवोकेट × × × के यहाँ ठहरे हुए थे । मैंने यही लिखा कि 'श्रीमहाप्रभुजी आदि संतोंका न यह आदेश है, न उनका आचरण ही ऐसा था ।' तथा गोसाईंजीकी चौपाई भी लिखी—

राम चरन पंकज अनुरागे । ते सब भोग रोग सम त्यागे ॥
राम चरन पंकज अनुसरहीं। बिषय भोग बस करहिं कि तिनहीं॥
रमाबिलास राम अनुरागी । तजत बमन इव नर बड़भागी ॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥

—आदि । उन महापुरुषजीने उत्तरमें लिखा—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।
तेजीयसो न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा ॥

'मैं समर्थ हूँ, मुझे कोई दोष या पाप नहीं ।'

उनके प्रभावशाली विद्वत्तापूर्ण व्याख्यानपर बड़े-बड़े मुग्ध होकर उन्हें अपने यहाँ ठहराते हैं और उनका यही कार्य है कि भोली-भाली कुमारियोंके साथ दुराचरण, यही कहकर कि 'तुम्हारी कामवासना नष्ट करूँगा वा भगवद्-अनुभव कराऊँगा ।' अनभिज्ञ बालिकाएँ क्या समझें, बह जायँ उनके कहनेमें × × × × । उनका यह अत्याचार अभी चल रहा है········बड़े-बड़े लोगोंके यहाँ ठहरते हैं । उन बेचारोंको समय भी कहाँ यह सब देखनेको । मैं भी गुरु-अपराधके भयके मारे किसीसे प्रकट नहीं कर सकता ।

मेरे जीवनका क्या होगा, मैं तो पथभ्रष्ट हो चुका । दिन-रात उसकी शङ्काएँ दिमागमें भरी रहती हैं । क्या वास्तवमें महापुरुषका आचरण ऐसा ही होता है ? इन विचारोंमें मैं तो भगवन्नाम भी भूल चुका हूँ × × × । एक संत मिले थे । उनके आज्ञानुसार आपकी सेवामें अपने दुःखको रो रहा हूँ । कुछ समझमें नहीं आता । भयभीत हूँ गुरु-अपराध आदिसे । क्या करूँ, किस प्रकार भजनका आनन्द ले सकूँ । उनके अनुयायी हजारोंकी तादादमें हैं । खूब मनमाना कर रहे हैं । × × × × मैं आपके उत्तरकी प्रतीक्षामें हूँ ।"

एक दूसरा पत्र एक संन्यासी महोदयका मिला है । वे लिखते हैं—"× × × × इस प्रकारका उपदेश दिया जा रहा है कि 'जगत् मिथ्या है, अन्तःकरणके मिथ्या दोष हैं, द्रष्टा आत्मा साक्षी असङ्ग है, इसलिये मिथ्या व्यवहारोंसे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं । सभी भोग इन्द्रिय-जन्य ही तो हैं, इसलिये ये सभी भोग देहस्थितिपर्यन्त हैं, अतः निर्दोष हैं ।' एक महान्

अनर्थ और भी हो रहा है। वे समझाते हैं कि जैसे पत्नीका गुरु पति है, ऐसा शास्त्रोंमें देखा जाता है और जब पतिरूप गुरुका पत्नीके साथ विषयभोग निर्दोष है, तब गुरुके साथ भी शिष्याका विषयभोग निर्दोष है। जबतक पति है, तबतक तो पतिसे ही विषयतृप्ति की जाती है, पतिकी मृत्युके बाद गुरुरूप पतिसे भोगमें कोई दोष नहीं है × × × × एक 'महात्मा' कहलानेवालेने अपनी एक विधवा शिष्याको अपने पास रक्खा है, उनको कोई दोषी बतलाते हैं तो कहा जाता है कि 'समरथको नहिं दोष गुसाईं।' एक दूसरे महात्मा भी × × × × ऐसे ही अपनी वासना पूर्ण कर रहे हैं। × × × × यह उपदेश दिया जाता है कि 'अपने गुरुको भगवान्‌से भी बढ़कर मानना चाहिये। देखो रामायणमें ऐसा कहा है, भागवतमें ऐसा कहा है। अपना महत्त्व सिद्ध करनेके लिये शास्त्रोंके प्रमाणोंका उदाहरण देते हैं और अपने मतको पुष्ट करते हैं। कहते हैं कि 'राम, कृष्ण, शङ्कर, विष्णु, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि तो ज्ञानी थे। इनकी पत्नियोंने इन पतियोंको गुरु बनाकर अपना उद्धार कर लिया, पर आजकलके पति तो मूर्ख तथा अज्ञानी हैं। अतएव उन्हें गुरु न मानकर अपने कल्याणके लिये महात्माओंको ही गुरु बनाना चाहिये' आदि, बेचारी भोली-भाली अनभिज्ञ दुनियाँ इनके वाग्जालमें फँस जाती है।

ऐसे और भी पत्र, जिनमें ऐसे महात्मा तथा महापुरुषोंके द्वारा धोखा खाये हुए लोगोंके पत्र भी होते हैं,—आते रहते हैं। इसपर क्या कहा जाय। साधकको तो किसीका दोष न देखकर अपने साधनमें ही लगे रहना चाहिये। उसके लिये इन लोगोंके पापोंको देखना, उसकी आलोचना करना तथा चिन्तन करना हानिकर ही होता है। भजन, भगवान्‌का चिन्तन छूट जाता है और पापचिन्तन होने लगता है। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने पापियोंके प्रति 'उपेक्षा' करनेका आदेश दिया है। और साधकको अपने लक्ष्यपर स्थिर रहकर साधन-मार्गमें अग्रसर होनेके लिये इस झगड़ेमें पड़ना ही नहीं चाहिये—

तेरे भावे जो करो, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥

जगत् गुण-दोषमय है ही। जहाँ अच्छे साधु-महात्मा हैं, वहाँ साधु-महात्माओंका वेष बनाकर धूर्तोंका भी उस वेषसे अनुचित लाभ उठाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। तथापि आजकल इस प्रकारका दम्भ बहुत अधिक बढ़ रहा है, इसका प्रतीकार भी आवश्यक है। परमार्थ, भगवान्, वेदान्त, प्रेम, भक्ति और धर्मके नामपर होनेवाला अत्याचार, अनाचार, भ्रष्टाचार बड़ा ही भयानक होता है। इसमें किसी भी प्रकारसे सहारा देना पाप है। उपर्युक्त पहले पत्र-लेखकके लिये हमारी यह सम्मति है कि वे ऐसे गुरुका तत्काल त्याग कर दें। धोखेसे हम यदि किसी चोर, डाकू या व्यभिचारीको भलामानस मान लें और पता लगनेपर उसे छोड़ दें तो यह कोई अपराध नहीं है; बल्कि उसके साथ रहकर उसके पापमें प्रकारान्तरसे सहायता करना ही अपराध है। इनको यह भी चाहिये कि ये उन भले लोगोंको सावधान भी कर दें, जिनके यहाँ वे 'महापुरुष' ठहरते हैं और दुराचार करते हैं। ऐसा करना धर्म होगा, पाप नहीं। भजनमें प्रधानरूपसे मन लगाइये। भजनमें मन लगनेपर निश्चय ही आपका कल्याण होगा।

संन्यासी महोदयने जो कुछ लिखा है, वह भी इसी प्रकारका पाप है। हमारा बड़ा ही दुर्भाग्य है जो आज हमारे आदर्श पूज्य पुरुषोंके, धार्मिक नेताओंके और आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक महात्माओंके पवित्र आसनोंपर ऐसे बहुत-से दुराचारी, अनाचारी, विषय-लोलुप प्राणी आ डटे हैं, जो प्रच्छन्न नास्तिक हैं और अपनी पाप-वासनाओंकी पूर्तिके लिये नाना प्रकारके वाग्जाल फैलाकर श्रद्धावान् विश्वासी जन-समूहको धोखा देकर

स्वयं नरक-यन्त्रणा-भोगके लिये प्रस्तुत हो रहे हैं और श्रद्धालु जनताके स्त्री-पुरुषोंको भी नरकानलमें ढकेल रहे हैं। ये लोग धर्म तथा समाजके कलङ्क हैं और इनसे समाजको अवश्य वचना-बचाना चाहिये।

बड़ी-बड़ी ज्ञानकी बातें करने, आँसू बहाने, नाचने, मूर्छित होकर गिर पड़ने, आँखें मूँदकर समाधि-सी लगाने तथा शास्त्रोंकी विलक्षण व्याख्या करने तथा ज्ञान एवं प्रेमकी प्रक्रिया बतानेसे ही कोई ज्ञानी या प्रेमी महात्मा नहीं हो जाता। नाटकोंमें अभिनय करनेवाले नट भी व्यास, शुकदेव, शंकराचार्य, बुद्ध, श्रीचैतन्य महाप्रभुका सफल अभिनय कर सकते हैं, पर वे इससे महात्मा या महापुरुष नहीं हो जाते। इतना अवश्य है, इन नटोंसे कोई ठगा नहीं जाता; परंतु जो वासनाके गुलाम धूर्तलोग अपनेको सच्चे साधु, महात्मा या महापुरुष वतलाकर जनताके धन, धर्म और सदाचारको लूटते हैं, वे तो बड़े ही भयानक हैं। समाजके कोढ़रूप इन लोगोंसे सावधानीके साथ बचे रहनेमें ही कल्याण है। हर-किसीको महात्मा या महापुरुष मानकर घरमें ठहराना तथा अपने घरकी बहू-बेटियोंको उनकी सेवामें लगाना बहुत खतरेकी चीज है। इसपर सभीको ध्यान देना चाहिये।

इसीलिये 'कल्याण'में बार-बार सबको सावधान किया जाता है। माता-बहिनोंसे हमारा विशेषरूपसे अनुरोध है कि वे इन भेंड़की खालमें घुसे हुए भेड़ियोंसे वचें। किसीको भी साधु, महात्मा या महापुरुष मानकर उसे न गुरु बनावें और एकान्तमें तो भूलकर भी किसीसे न मिलें। किसीका भी चरण-स्पर्श न करें। सेवाके भावसे भी किसी पर-पुरुषके शरीरको छूना पाप समझें। महापुरुषों और गुरुओंके पास एकान्तमें ले जाकर उपदेश दिलानेवाली स्त्रियोंसे भी सावधान रहें। कहीं जाना हो तो अपने पिता, पति, पुत्र या अभिभावक आदिके साथ ही जायँ। आजकल चारों ओर यही दुर्दशा है। भगवान् इन महापुरुषों और महात्माओंसे समाजको बचावें।

कुछ दिनों पूर्व बंबईसे एक पत्र मिला था, जिसका सारांश है कि "गत अगस्तमें ३०।४०खाकियोंकी जमात उनके महंतके साथ सौराष्ट्रमें आयी थी। महंतका रहन-सहन बहुत ही खर्चीला था। × × × महंतने अपने प्रवचनोंमें कहा कि श्रीरामके एक पुत्रका नाम 'लव' था। और उसीके वंशज 'लवाना' नामसे प्रसिद्ध हैं। सौराष्ट्रमें लवाना जाति आजकल बहुत सम्पन्न है और उस लवाना जातिका ध्यान अपनी ओर खींचनेके लिये ही यह कहानी कही गयी है।

महंतने कहा कि 'उसने गोरखपुरमें कल्याण प्रेसके चालू करनेके लिये बहुत रुपये दिये थे और वहाँ उसकी बहुत बड़ी रकम जमा है। अयोध्यामें उसकी बड़ी सम्पत्ति है और ४२ गाँव उसे जयपुर स्टेटकी ओरसे भेंटमें मिले हैं।'

वह राजसी ठाटसे रहता है और जनतासे लेकर बहुत धन खर्च करता है।

कहा जाता है कि एक 'लवाना' सज्जनने सौराष्ट्रमें बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर उसपर लगभग एक लाख रुपये खर्च कर दिये। विष्णुयज्ञ करने, अयोध्यामें सम्पत्ति खरीदने और हरद्वारमें जमीन खरीदनेके लिये भी उन्होंने बहुत रुपये दिये। मैं नहीं कह सकता कि उन लवाना सज्जनको उस महंतके द्वारा कितनी विभूति, शक्ति या सफलता मिली, पर जनताका तो यही कहना है कि उक्त लवाना सजन तबसे विशेष विपत्तिमें हैं।

× × × ×

कुछ समय पहले 'पीपाड़' (मारवाड़) से भी पत्र मिले थे, जिनमें लिखा था कि 'एक साधुओंकी किसी जमातके महंतजी कहते हैं कि कल्याणमें जो 'कामके पत्र' शीर्षकसे पत्रोंके उत्तर छपते हैं, उन्हें मैं

ही लिखता हूँ और गीताप्रेसकी स्थापना मैंने ही की है।' पता नहीं, यही जमात सौराष्ट्रमें गयी थी या वह दूसरी थी।

भगवान् श्रीरामके पुत्र लवसे सौराष्ट्रकी 'लवाना' जाति-का क्या सम्बन्ध है, इसका तो हमें पता नहीं, यद्यपि हमने यह बात इससे पहले कभी नहीं सुनी। पर 'गीताप्रेस' तथा 'कल्याण' के सम्बन्धमें जो कुछ कहा गया है, वह तो सर्वथा मिथ्या है। न तो किसीसे भी कभी 'कल्याण' प्रेसके चालू करनेके लिये एक पैसा लिया गया है, न किसीं महंतका एक भी पैसा गीताप्रेसमें जमा ही है और न 'कामके पत्र' ही कोई महंत लिखते हैं। ये सारी बातें मिथ्या, धूर्ततापूर्ण और विश्वासी लोगोंको ठगनेके लिये गढ़कर कही गयी हैं। गीताप्रेसको ऐसे लोगोंपर कानूनी कार्यवाही करनेकी सलाह मिली है। भोले-भाले भाई ऐसे लोगोंको महात्मा मान लेते हैं और लोक-परलोककी झूठी-झूठी आशाएँ बाँधकर धन-धर्मका नाश करते हैं। ऐसे ठग साधु-समाजको कलङ्कित करते हैं। इनसे सदा सावधान रहना चाहिये। कोई भी मनुष्य अपनेको गीताप्रेससे सम्पर्क रखनेवाला बतावे तो पहले पत्र लिखकर पूछ लें, तब उसकी बात मानें। रुपये-पैसे किसीको कभी दें ही नहीं और महात्मा मानकर उनके शिष्य बननेका भी विचार न करें। माता-बहिनें ऐसे धूर्तोंसे विशेषरूपसे सावधान रहें।

प्रणाम

स्रष्टाकी भी सृष्टि स्वयं ही जो करते हैं।
सारे भवको भव्य भूतिसे जो भरते हैं॥
होकर भव भूतेश विभवको जो हरते हैं।
नाना नाम-स्वरूप सर्वदा जो धरते हैं॥
ऐसे आदिम पुरुषको भजो प्रेमसे, भक्तिसे।
सब कुछ होता है सदा जिनकी अनुपम शक्तिसे॥ १॥

जो अनादि हैं, अन्त-रहित भी कहलाते हैं।
जो निर्गुण हैं और सगुण भी हो जाते हैं॥
दर्शक, लोचन, दृश्य सभीमें जो पाते हैं।
देव-दनुज, गुण, मनुज सदा जिनके गाते हैं॥
ऐसे कविको, विष्णुको, कविके कोटि प्रणाम हैं।
जो त्रेतामें राम हैं, जो द्वापरमें श्याम हैं॥ २॥

—पु० प्रतापनारायण

भक्त-गाथा

[भक्त श्रीरामदासजी]

प्रान्तभरको अन्न-जल प्रदान करनेवाली पवित्र नदी गोदावरीके तटपर एक छोटे-से गाँवमें रामदासजी रहते थे। रामदासजी ब्राह्मण होकर भी उच्चवर्णके अभिमान-से रहित थे, विद्वान् होकर भी सबका आदर करते थे, घरके स्वामी होनेपर भी किसीपर हुक्म नहीं चलाते थे—अपनेको अतिथिके सदृश मानकर सदा यह ध्यान रखते थे कि उनके कारण किसीको भी कभी, कुछ भी कष्ट या संकोचमें न पड़ना पड़े। किसीसे सेवा कराना तो उनके स्वभावसे सर्वथा विपरीत था। झाड़ू लगाना, कपड़े धोना आदिसे लेकर श्रीभगवान्की पूजातक अपना सारा काम वे अपने हाथों करते थे। सदा हँसमुख रहना, सबसे मधुर तथा नम्र वाणीसे बोलना, बड़ोंका आदर करना, छोटोंसे प्यार करना, गरीबोंके साथ विशेष प्रेमका व्यवहार करना, मधुर और हितकर बनाकर केवल सत्य कथन करना, इन्द्रियोंपर काबू रखना और भगवान्का निरन्तर स्मरण करते हुए ही सब कार्य करना—मानो उनकी जीवनचर्याका सहज स्वरूप था। यह सब उन्हें प्रयत्न करके करना नहीं पड़ता था; जैसे सूर्यमें प्रकाश, अग्निमें दाहिका शक्ति स्वरूपगत होती है, वैसे ही ये सब गुण उनमें स्वाभाविक स्वरूपगत थे।

घरमें सती स्त्री, एक पुत्र और पुत्रवधू थी। एक कन्या थी, जिसका विवाह हो चुका था। तरुण पुत्र ग्रामकी संस्कृत पाठशालाके अध्यापक थे। माता-पिताकी सेवा करना अपना परम सौभाग्य मानते थे। पर पिता तो कभी किसी सेवाका अवसर ही नहीं देते थे। जिसको किसी दूसरेसे सेवा करानेमें दुःख होता है, उसको उसकी इच्छाके प्रतिकूल सेवा करानेके लिये बाध्य करना तो उसकी कु-सेवा करना है तथा जो अपनी इच्छाके विरुद्ध—धर्म उपस्थित होनेपर पुत्र-पत्नी आदिसे सेवा करानेको बाध्य होता है, वह सेवा कराकर वस्तुतः सेवा कराता नहीं, उनकी सेवा करता है; क्योंकि उसका उद्देश्य अपने सुखके लिये किसीसे सेवा कराना नहीं, वरं दूसरेकी प्रसन्नताके लिये सेवा करानेको बाध्य होना है। इसी प्रकार रामदासजी भी कभी-कभी पितृभक्त अपने पुत्र नारायणदाससे सेवा करानेको बाध्य होते थे। पुत्रवधू अपनी सासकी सेवा करनेमें और सासको कुछ भी काम करनेका अवसर सहजमें न देकर घरका सारा काम स्वयं करनेमें अपना परम सौभाग्य समझती थी। रामदासजीकी पत्नी मनोरमा अपनी पुत्रवधू सरलाके साथ अपनी पुत्री विमलासे भी बढ़कर स्नेहका व्यवहार करती थीं। घरके सभी लोग एक दूसरेको सुख पहुँचानेमें ही सुखका अनुभव करते थे, वे स्वभावसे ही अपनी सुख-सुविधाका त्याग करके एक-दूसरेको सुखी करना चाहते थे, सुतरां रामदासजीका घर सर्वथा 'सुखसदन' हो रहा था। कलह, झगड़ा, झुँझलाहट, द्रोह, क्रोध, कठोर वाणी आदिका मानो उनके घरमें प्रवेश निषिद्ध था। भगवान्की बड़ी कृपा होनेपर ही इस प्रकारकी स्थिति होती है।

रामदासजीको तो घरकी इस अनुकूल स्थितिमें कोई ममत्व या मोह नहीं था; परंतु रामदासजीकी पत्नी मनोरमा घरके सुखका अनुभव करती थीं, उनके मनमें यह अभिमान होने लगा था कि मेरे समान सुखी और कौन है? बात तो सच्ची थी। घरकी सभी अनुकूलता उन्हें प्राप्त थी, परंतु उसमें अभिमान करके अपनेको सुखी मानना उनका मोह था। एक सुन्दर बगीचेमें जो रंग-बिरंगे पुष्प खिल-खिलकर अपनी मधुर सुगन्धसे सबको मोहित करते हैं, बढ़िया फल लगकर बगीचेकी महत्ता बढ़ाते हैं, यह मालीके लिये अवश्य ही बड़े सुखका प्रसंग है। परंतु माली उनपर अपना अधिकार

मानकर मोह-ममता नहीं करता, उन्हें मालिककी सेवामें पहुँचाकर प्रसन्न होता है। पेड़ लगाना, उनमें खाद देना, जल सींचना, आँधी-तूफान तथा पशु-पक्षियोंसे बचाना, बढ़िया-बढ़िया फल-फूल उत्पन्न करना, फल-फूलोंकी रक्षा करना मालीका कर्तव्य है, पर वह यह सब करता है—स्वामीको अर्पण करके उसे सुख पहुँचानेके लिये। और इसीमें वह सुखी होता है। न बगीचेकी किसी वस्तुमें ममत्व करता है, न स्वयं उसका उपभोग करता है। इसी प्रकार संसारके—घरके सब प्राणि-पदार्थोंको भगवान्‌की वस्तु मानकर उनकी सेवा-सँभाल करना और प्रभुके इच्छानुसार समयपर उन्हें प्रभुके समर्पण करके सुखी होना चाहिये। जहाँ ममता आयी, वहीं मोह हुआ। मनोरमा देवीको कुछ ऐसा मोह हो चला था। इस मोहका हटना आवश्यक था। भगवान्‌का मङ्गल-विधान तो पूर्वनिर्मित था ही।

एक बार गाँवमें बड़े जोरसे हैजा फैला; धड़ाधड़ लोग मरने लगे। इक्के-दुक्के आदमी मरते हैं, तब तो लोग मानते हैं कि ये अपनी मौत मरे, पर जब महामारी, भूकम्प, बाढ़, किसी दुर्घटना आदिसे बहुत-से आदमी एक ही स्थानपर एक साथ मरते हैं, तब लोग समझते हैं कि यह अकालमृत्यु हो रही है, यह कोई नयी बात हो रही है। पर वस्तुतः न तो अकालमृत्यु होती है, न कोई नयी बात ही होती है। जीवोंके कर्मवश प्रभुके मङ्गलविधानसे ही सब कुछ होता है। वही मङ्गलविधान यहाँ भी काम कर रहा था। देखते-ही-देखते हैजा श्रीरामदासजीके गृहमें भी आ गया और तीन ही दिनोंमें पुत्र और पुत्रवधू दोनोंका देहान्त हो गया। रामदासजीकी पत्नी मनोरमाको बड़ा ही दुःख हुआ। रामदासजीने पत्नीको समझाते हुए कहा—

'मनोरमा! तुम इतना दुःख क्यों कर रही हो? पुत्र तथा पुत्रवधूका इतने ही दिनोंका हमारे साथ संयोग था। जैसे जलके वेगसे बालूके बहुतसे कण परस्पर जुड़ते और बिछुड़ते रहते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहसे प्राणियोंका मिलना और बिछुड़ना होता रहता है। यहाँ किसीका नित्य सम्बन्ध नहीं है। तुमने उनको अपना पुत्र तथा पुत्रवधू मानकर उनमें ममता कर ली थी, उनके अनुकूल आचरणोंमें सुख मानकर उनमें मोह बढ़ा लिया था, इसीसे आज तुम्हें इतना दुःख हो रहा है। जगत्‌में प्रतिदिन कितनी माताओंके पुत्र मरते हैं, अभी अपने ही गाँवमें कितने बालक और युवा हैजेसे मर गये, तुम किस-किसके लिये रोयी? इसीलिये नहीं रोयी कि उनमें तुम्हारा ममत्व नहीं था। ये पुत्र-पुत्रवधू भी यदि तुम्हारे प्रतिकूल आचरण करनेवाले होते तो तुम्हारा उनमें ममत्व और मोह न होता और तुम नहीं रोती। जीव नित्य है, शरीर अनित्य है। शरीरका सम्बन्ध शरीरतक ही है। फिर यह दुःख क्यों? तुमने उनसे सुख माना था, इसीसे तुम्हें दुःख हो रहा है। इसके अतिरिक्त, यदि तुम नारायणदास और सरलाको भगवान्‌की दी हुई उन्हींकी वस्तु मानती तो भी तुम्हें दुःख नहीं होता। यहाँ जो कुछ होता है, सभी भगवान्‌की देख-रेखमें, उनके नियन्त्रणमें, उन्हींके मङ्गलविधानके अनुसार होता है। वे प्रभु हमारे ही नहीं, जीवमात्रके परम सुहृद् हैं। उनके मङ्गलविधानके अनुसार यदि नारायणदास और सरला तुम्हारे पास न रहकर प्रभुके पास चले गये तो इसमें रोनेकी कौन-सी बात है। उनकी चीज थी, उन्हींके आदेशसे हमारे पास थी। हमारा काम तो, जबतक प्रभुकी वह चीज हमारे पास थी, तबतक प्रभुके आज्ञानुसार प्रभुके प्रीत्यर्थ उसे सँभालना और उसकी सेवा करना था, अब प्रभुने अपनी वह चीज अपने पास मँगवा ली, हमने उसे अच्छी तरह सजा-बनाकर, उपयोगी बनाकर उनके पास भेज दिया, उनकी चीज सुन्दर रूपमें उनके समर्पण कर दी गयी, यह तो आनन्दकी बात हुई। एक दूसरी बात यह है कि इधर जबसे नारायणदास और सरलाकी ओर तुम्हारा ममत्व बढ़ा और तुमने उनमें तथा उनसे सुख माना, त

तभीसे तुम क्रमशः प्रभुको भूली जा रही थी, तुम्हारा मन दिन-रात उन्हींमें रमने लगा था। हमारे कृपालु प्रभु तुम्हारी इस विपरीत गतिको कैसे देख सकते थे। अतएव तुम्हें विपरीत मार्गसे हटाकर दुर्गतिसे बचानेके लिये ही प्रभुने ऐसा किया है। तुम प्रभुके सम्बन्धसे उनसे सम्बन्ध जोड़ती, प्रभुकी वस्तु जानकर उनसे स्नेह करती, तब तो आपत्ति नहीं थी, पर तुमने तो उनको अपनी वस्तु मान लिया था। भला, दूसरेकी वस्तुपर अपना अधिकार माननेवाले, दूसरेकी चीजको अपनी समझ लेनेवालेके पास वह वस्तु कैसे रह सकती है? वह तो उससे छीनी ही जायगी। भगवान्ने तुमपर बड़ी कृपा की है जो तुम्हारे मोहके बन्धनको—ममताकी बेड़ीको सहज ही काट दिया। अब तुम निश्चिन्त होकर भगवान्का भजन करो और मनुष्य-जीवनको सफल बनाओ।

'देखो—संसारके ये सब प्राणि-पदार्थ—स्त्री-स्वामी, पुत्र-पौत्र, मित्र-स्वजन, सगे-सम्बन्धी, घर-जमीन, धन-सम्पत्ति, सम्मान-यश तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धरूप समस्त विषय अनित्य हैं और शोक, मोह, भय तथा दुःखकी उत्पत्तिके स्थान हैं; ये सभी अपूर्ण और अनित्य हैं, अतएव किसी भी प्रकारसे सुख-के हेतु नहीं हैं, इनमें सुख खोजनेवालेको निश्चय ही निराश होना पड़ता है और हाथ मल-मलकर पछताना-रोना पड़ता है। इसलिये तुम इन मिथ्या तथा दुःखदायी विषयोंसे चित्तको हटाकर नित्य सच्चिदानन्दघन परम सुखरूप भगवान्में मन लगाओ।'

पुत्र एवं पुत्रवधूके आकस्मिक मरणसे संसारकी क्षणभङ्गुरता प्रत्यक्ष हो गयी और भक्त पतिके सदुपदेश-से, मनोरमाकी मति, जो मोह-ममताकी रात्रिमें घोर निद्रामें सो रही थी, तुरंत जाग गयी। उसकी बुद्धिमें प्रकाश छा गया, भगवान्की कृपाके दर्शन हुए और मनोरमा समस्त स्नेह-बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्के भजनमें लग गयी। भाई और भौजाईकी मृत्युका संवाद सुनकर रामदासजीकी लड़की विमला ससुरालसे आयी, परंतु उसने आकर माताको बिल्कुल दूसरे ही रंगमें पाया। पिता तो पहलेसे ही श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण-के श्याम रंगमें डूबकर, अपनी मोह-कालिमाको धोकर, परम उज्ज्वल बन चुके थे, अब माता मनोरमा भी श्याम रंगसे रँग गयीं। विमलाने देखा—माता भगवान्-के श्रीविग्रहके सामने बैठी हर्षोत्फुल्ल हृदयसे उनका नामोच्चारण कर रही है। मुखपर म्लानताका जरा भी चिह्न नहीं है। पुत्रीको आयी देखकर माताने कहा—'बेटी! तुम्हारे भाई-भौजाई बड़े भाग्यशाली थे, उन्हें प्रभुने अपने धाममें बुलाकर अपनी सेवामें लगा लिया। फिर, वे प्रभुकी ही तो वस्तु थे। प्रभुने उन्हें हमारे पास इसीलिये भेजा था कि उन्हें प्रभुकी सेवाके उपयोगी बनाकर हम प्रभुके समर्पण कर दें। आज बड़ा आनन्द है कि प्रभुकी वह प्यारी वस्तु प्रभुके समर्पित हो गयी। यही तो मनुष्यका परम सौभाग्य है।'

मनोरमाके वचनोंका विमलापर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह भाई-भावजके दुःखको भूल गयी और उसने भी अपने जीवनकी गति क्रमशः बदल दी। कुछ दिनों बाद वह ससुराल चली गयी।

अब भक्त रामदासजी और मनोरमाका जीवन 'प्रभुमय' हो गया। वे दोनों मानो मूर्तिमान् तितिक्षा और वैराग्य, तपस्या और संयम, भक्ति और प्रेम तथा अनुभूति और ज्ञानस्वरूप हो गये थे। उनका अन्तिम जीवन तो सर्वथा समाधिमग्न योगियोंका जीवन था। पर यह समाधि थी भगवत्प्रेमकी—भगवत्-रसकी। अद्वैत था पर था रसाद्वैत। अन्तमें दम्पति अस्सी वर्षकी अवस्थामें भी बिना वृद्धावस्थाको प्राप्त हुए, भगवत्प्रेममें झूमते हुए उन्मत्तवत् नाम-गुण-कीर्तन-ध्वनि करते-करते प्राणोंका त्याग कर परम धामको पधारे।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

सुन्दर जीवन

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

हम अपने जीवनमें सुन्दरता चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सुन्दर नौकर मिले, सुन्दर मित्र मिले, सुन्दर पति मिले, सुन्दर पत्नी मिले—प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर-ही-सुन्दर चाहता है। सुन्दरका अर्थ आकृति नहीं है, सुन्दर जीवन है। सुन्दरताकी कसौटी यह है कि हमें सुन्दर स्त्री मिले तो प्रेमसे सेवा करे, आज्ञा माने, सुन्दर वचन कहे। सुन्दर पतिसे इसी प्रकार पत्नी सुन्दर व्यवहारकी आशा करती है। सुन्दरताकी प्यास सबको है, सब उसके भूखे हैं। मानवको इस दिशामें पद-पदपर धोखा खाना पड़ता है। दूसरोंसे तो वह सुन्दरताकी आशा करता है, पर दूसरोंके लिये स्वयं सुन्दर बननेका प्रयास नहीं करता। प्रत्येक मानवको यह संकल्प करना चाहिये कि दूसरे सुन्दर बनें या न बनें, पर मुझे अपने-आपको सबके लिये सुन्दर बनाना है। सुन्दर बने रहनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। सुन्दर जीवन ही पुण्यमय जीवन है और असुन्दर जीवन ही पापमय जीवन है। अपने लिये किसीको कष्ट देना ही असुन्दर है तथा दूसरोंके लिये स्वयं कष्ट सहना ही सुन्दर जीवन है। हम जिन लोगोंके बीचमें रहते हैं उनके साथ यदि हम असुन्दरताका परिचय देते हैं, अपने सुख-सम्मान-भोगकी पूर्तिमें जीवन लगाते हैं तो असुन्दरता—नारकीयताका ही संचय करते हैं। ज्ञानी अथवा विवेकीका ज्ञान—समझ इसीमें है कि चाहे कोई कितना ही असुन्दर हो वह उससे लाभ उठाता चला जाये; आसपासके लोगोंकी अभिमानी, अ[illegible]र, अन्यायी तथा अविवेकी आदि कहकर शिकायत करनेसे कुछ भी हाथ नहीं लग सकता, उन्हींके बीचमें सहिष्णु और विनम्र बनकर रहनेसे जीवनमें निर्मल—वास्तविक सौन्दर्यकी परिपुष्टि होती है। इस प्रकारका संयत आचरण किसी भोगीके वशकी बात नहीं है, यह तो उसके लिये सम्भव है जो संसारके भोगोंसे छक गया है—ऊब गया है, तृप्त हो गया है और आगे बढ़ना चाहता है; अपने-आपमें उच्चतम मानवताका विकास करना चाहता है; सुन्दर मानवतामें दिव्यता उतारना चाहता है; प्रेम, शान्ति, सुन्दरता, स्वाधीनता, मुक्ति और भगवत्प्राप्तिके लिये अपना जीवन शक्तिसम्पन्न करना चाहता है। अभिमानियोंके बीचमें ही विनम्रताकी पुष्टि होती है, लोभियोंके बीचमें ही संतोष-लाभका अभ्यास सफल होता है। यदि विनम्र और संतोषी बननेमें कष्ट होता है तो निस्संदेह जीवनमें सद्गुणका सौन्दर्य नहीं उतर पाता है। अपने दोषोंसे परिचित होना सद्गुणके सुन्दर पथपर चलनेका परिचायक है।

कोई कितना ही गरीब है, निर्धन है, पर अपनी उन्नतिके लिये वह उतना ही स्वतन्त्र है, जितना एक सम्राट् हो सकता है। वह अपने भीतर ऐसी मस्ती ला सकता है कि सम्राट् भी उसे पराजित नहीं कर सकता। जबतक किसी व्यक्ति या वस्तुका आश्रय लिया जाता है तबतक निर्भयता और वास्तविक शान्तिकी अनुभूति नहीं हो पाती है। सनातन ज्ञान अथवा प्रेमका अनादर कर व्यक्ति और वस्तुकी दासतामें कितना कष्ट उठाना पड़ता है—इस सत्यपर विवेकी मानवको विचार करना चाहिये। यह एक चिरस्मरणीय बात है कि हमें व्यावहारिक क्षेत्रसे अपने समस्त दोषोंको मिटाना है। दोषोंके मिटनेपर मानवताकी जागृति और दिव्यताके अवतरणका आरम्भ होता है। मानवतासे ही दिव्यताकी प्राप्ति सम्भव है, असुरता और पशुतासे यह नहीं आया करती है। सबसे ऊँचा ध्येय यही होना चाहिये कि हम अपने व्यवहारमें सद्गुणोंका विकास करें। हमें अपने जीवनके लिये दोषोंकी नहीं, सद्गुणोंकी ...र

आवश्यकता है। सद्गुणोंके विकाससे ही जीवन सुन्दर होता जाता है। यदि कोई क्रोधमें आगे बढ़ता है तो हमें क्षमामें आगे बढ़ना चाहिये, कोई अपने आपमें दोष-ही-दोष बढ़ाता है तो हमें अपने भीतर सद्गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये। सद्गुणोंकी वृद्धिसे जीवन निःस्वार्थ, प्रेममय और पवित्र तथा सुन्दर होता है।

कामके पत्र

(१)

कृपा-ही-कृपा

प्रिय महोदय! आपका कृपापत्र मिला था। आपको क्या लिखूँ। भगवान् कितने कृपालु हैं, उनकी कृपा कैसी है, यह कोई कैसे बतला सकता है। वे तो कृपामूर्ति ही हैं, उनकी कृपामें कृपा-ही-कृपा है। वहाँ न्याय नहीं है, इन्साफ नहीं है, यही कहना पड़ता है। वे यदि न्याय या इन्साफ करते होते तो मुझ-सरीखे सहज पातकीकी न मालूम क्या गति हुई होती। लोगोंके सामने मुँह दिखानेकी बात ही नहीं, जगत् मुँहपर थूकनेसे भी घृणा करता—अपने अपराधोंका ध्यान आनेसे तो न्यायकी बात यही जँचती है। पर उनकी कृपाशक्ति इतनी विचित्र है कि वह जहाँ भी कोई कहीं न्यायका प्रसङ्ग आता है, वहीं उस न्यायमें काय-प्रवेश कर जाती है और न्यायको तत्काल कृपाके रूपमें बदल देती है। सच्ची बात तो यह है कि भगवान् सदा कृपामय ही हैं, उनमें कृपा-ही-कृपा है। अतएव उनका न्याय भी कृपामूलक ही है। अतएव निरन्तर उनकी कृपापर दृढ़ विश्वास रखना चाहिये और उस परम करुणामयी माँ कृपा देवीके चरणोंपर अपनेको बिना शर्त न्योछावर कर देना चाहिये। बस, निश्चिन्त हो जाना चाहिये—कृपापर पूर्ण निर्भर हो जाना चाहिये। याद रखना चाहिये—

'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।'
'प्रभु मूरति कृपामयी है।'
'सुहृदं सर्वभूतानाम्'
'मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि तरिष्यसि।'

बस—कृपा, कृपा, कृपा! भगवत्कृपा!!

(२)

अवतार-रहस्य

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तर इस प्रकार हैं—

जो अवतारवादको नहीं मानते, वे यह दलील देते हैं कि शरीर धारण करनेसे ईश्वर एकदेशीय हो जाता है। पर वस्तुतः यह कथन ठीक नहीं है। एकदेशित्वकी कल्पना जड देहमें होती है। भगवान्का स्वरूप चिन्मय है। वे ज्ञानमय प्रकाशके पुञ्ज हैं। उनका शरीर, उनके आयुध-आभूषण सभी दिव्य एवं चिन्मय हैं। वे साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। अतएव वे एक देशमें दिखायी देते हुए भी सर्वदेशी तथा सर्वव्यापी हैं। यही भगवान्की विशेषता है कि उनमें सब प्रकारके विरोधी गुणोंका तथा भावोंका समन्वय होता है।

यद्यपि भगवान्के सदृश व्यापक दूसरी कोई वस्तु नहीं, जिसका दृष्टान्त उपस्थित किया जाय तथापि अवतारवादको कुछ हदतक समझनेके लिये अग्निका दृष्टान्त दिया जाता है। अग्नि परमाणुरूपसे सर्वत्र व्यापक है। काष्ठ आदि सभी वस्तुओंमें उसकी सत्ता है। इस प्रकारसे निराकार रूपसे सर्वत्र व्याप्त अग्नितत्त्व एक ही है तो भी वह दियासलाई आदिकी सहायतासे अनेक स्थानोंपर या एक स्थानपर साकाररूपमें प्रकट होता है। इस प्रकार एक देशमें प्रकट होकर भी वह अन्यत्र नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार भगवान् भी एक देशमें साकाररूपसे प्रकट होकर भी निराकार-रूपसे अन्यत्र सब स्थानोंमें विद्यमान हैं। अग्निकी दो शक्तियाँ हैं—दाहिका शक्ति और प्रकाशिका शक्ति।

अग्निका प्राकट्य जहाँ कहीं भी होता है, वहाँ ये दोनों शक्तियाँ पूर्णरूपसे विद्यमान रहती हैं। इसी प्रकार भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा जहाँ भी प्रकट होते हैं, अपनी सम्पूर्ण शक्ति साथ लेकर ही प्रकट होते हैं। अतः भगवान्के अवतार-विग्रहमें एकदेशीय या अल्पशक्ति होनेका दोष नहीं आ सकता। जैसे प्रकट अग्नि और अप्रकट अग्नि एक ही है, उसी प्रकार साकार और निराकार एक ही तत्त्व है, इसमें कोई पार्थक्य नहीं है, अतएव साकार विग्रह भी सर्वव्यापी ही है।

ईश्वर सर्वत्र है, अतः वह अपने लिये ऐसा नियम कभी नहीं बनाता जिसे कभी तोड़नेकी आवश्यकता पड़े। वह आविर्भाव और तिरोभावकी शक्तिसे युक्त है, अतः अवतार-ग्रहण उसके लिये नियमविरुद्ध नहीं है। वेदोंमें भी कहा है—

'स एव जातः, स जनिष्यमाणः।'

वह प्रकट है और वह भविष्यमें भी प्रकट होगा। गीता कहती है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर होकर भी अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ।' यही तो ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता है। शेष भगवत्कृपा!

(३)

गुरु किसको करें?

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। पत्र मिला, उत्तरमें निवेदन है कि ब्राह्मणके लिये यदि ब्राह्मण ही गुरु मिल जायँ तो वह सर्वोत्तम है। केवल ब्राह्मणका ही नहीं, समस्त वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है। 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।' किंतु यदि ब्रह्मनिष्ठ भगवत्प्राप्त एवं गुरूचित गुणोंसे सम्पन्न ब्राह्मण गुरु न मिल सके तो उक्त गुणोंवाले क्षत्रिय अथवा वैश्यसे भी श्रद्धापूर्वक परमार्थपथका उपदेश लिया जा सकता है। यह बात शास्त्रोंद्वारा अनुमोदित है। छान्दोग्य उपनिषद्में कथा आती है— आरुणिके पुत्र श्वेतकेतु तथा स्वयं आरुणिने भी पाञ्चालराज प्रवाहणसे उपदेश ग्रहण किया था। पाञ्चालराज क्षत्रिय थे और आरुणि ब्राह्मण। इसी प्रकार महाभारतमें कथा आती है कि एक तपस्वी ब्राह्मणने किसी पतिव्रता देवीके भेजनेसे व्याधके पास जाकर उपदेश ग्रहण किया था। एक कथा है—एक ब्राह्मणने तुलाधार वैश्यके पास जाकर उपदेश देनेके लिये प्रार्थना की थी। इतना ही नहीं, उन्हें माता-पितामें भक्ति रखनेवाले एक चाण्डालके यहाँ भी उपदेश लेनेके लिये जाना पड़ा था। ये सभी अपवाद-स्थल हैं। तात्पर्य इतना ही है कि वास्तवमें गुरु उत्तम वर्णका होना चाहिये। अभावमें निम्नवर्णके योग्य पुरुषकी शरण लेनेमें भी कोई हर्ज नहीं है।

ईश्वरप्राप्ति अथवा मोक्षमार्गमें प्रवृत्त करानेवाले गुरुका महत्त्व सबसे बढ़कर है। साधन-सम्बन्धी उपदेश उन्हींसे लेना और उसका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये। अन्य संत-महात्माओं तथा गुरुजनोंसे भी सत्सङ्गके तौरपर उत्तम बातें लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। सत्सङ्गसे साधनमें रुचि बढ़ती है और दृढ़ता आती है। अतः वह प्रत्येक साधकके लिये लाभदायक है।

कुलपरम्परासे यदि घरमें श्रीविष्णुकी अथवा देवीकी पूजा होती चली आ रही हो तो उसका पालन होना ही चाहिये। कुलके प्रत्येक व्यक्तिको उस परम्पराकी रक्षामें सहयोग करना चाहिये। इसके अतिरिक्त अपनी श्रद्धा-भक्तिके अनुसार जिन्हें हृदयके सिंहासनपर बिठाया है, उन श्रीकृष्ण अथवा श्रीराम आदि इष्टदेवकी पूजा भी करनी चाहिये। उस व्यक्तिके लिये, जिसके श्रीकृष्ण ही इष्टदेव हैं, श्रीकृष्णकी ही पूजा प्रधान है। वह केवल श्रीकृष्णकी प्रतिमा अथवा चित्रपटका पूजन करे। शालग्राम-शिलाका भी श्रीकृष्णभावसे पूजन करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। श्रीकृष्णके पार्षदों अथवा अन्तरङ्ग शक्तियोंका पूजन भिन्न-भिन्न तन्त्रोंमें भिन्न-भिन्न